# हिंदी की गद्य-शैली का विकास

जगन्नाथप्रसाद शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्०

काशी नागरीप्रचारिणी सभा

सूर्य्यकुमारी-पुस्तकमाला —१४

# हिंदी की गद्य-शैली का विकास

लेखक

जगन्नाथप्रसाद शर्म्मा, एम० ए०, डी० लिट्०

अध्यापक, हिंदी-विभाग

हिंदू-विश्वविद्यालय, काशी ।
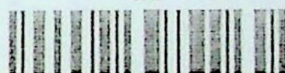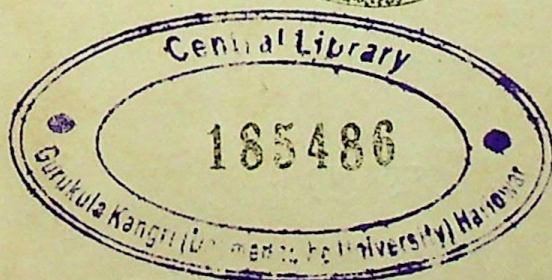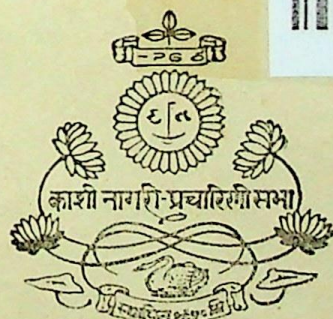
प्रकाशक—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी।

मुद्रक—सन्मार्ग प्रेस, काशी।



प्रथम संस्करण सं० १९८७
द्वितीयावृत्ति सं० १९९०
तृतीयावृत्ति सं० १९९२
चतुर्थावृत्ति सं० १९९४
पंचमावृत्ति सं० २००६

मूल्य २॥)

# परिचय

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्री अजीतसिंह जी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणित शास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामी जी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्रीरामसिंह जी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुखी प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंह जी ही में दिखाई दी।

राजा श्रीअजीतसिंह जी की रानी आउआ (मारवाड़) चाँपावत जी के गर्भ से तीन संतति हुईं—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूर्यकुमारी थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहरसिंह जी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्रीउमेदसिंह जी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँद-कुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्री-[illegible]सिंह जी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंह जी थे जो राजा श्रीअजीतसिंह जी और रानी चाँपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिये तीनों की स्मृति, संचित कर्मों के परिणाम से, दुःखमय हुई। जयसिंह जी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ। सारी प्रजा, सब शुभचिंतक, संबंधी, मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्यकुमारी जी को एकमात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्रीचाँदकुँवर बाई जी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृ-वियोग और पति-वियोग दोनों का असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके एकमात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्रीरामसिंह जी से मातामह राजा श्रीअजीतसिंहजी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्य्यकुमारी जी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउमेदसिंह जी ने उनके जीवन-काल में दूसरा विवाह

नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार, कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्य्यकुमारी जी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाले चमत्कृत रह जाते। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानंद जी के सब ग्रंथों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्य काल से ही स्वामी जी के लेखों और अध्यात्म विशेषतः अद्वैत वेदांत की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निर्देशानुसार इसका कार्य्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिये एक अक्षय निधि की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्थापत्र बनते बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार श्रीउमेदसिंह जी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार बीस हजार रुपए देकर काशी-नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रंथमाला के प्रकाशन की व्यवस्था की। तीस हजार रुपए के सूद से गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी में 'सूर्यकुमारी आर्यभाषा गद्दी ( चेयर )' की स्थापना की।

पाँच हजार रुपए से उपर्युक्त गुरुकुल में चेयर के साथ ही सूर्यकुमारी निधि की स्थापना कर सूर्यकुमारी-ग्रंथावली के प्रकाशन की व्यवस्था की।

पाँच हजार रुपए दरबार हाई स्कूल शाहपुरा में सूर्यकुमारी-विज्ञान-भवन के लिये प्रदान किए।

स्वामी विवेकानंद जी के यावत् निबंधों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस ग्रंथमाला में छापे जायँगे और अल्प मूल्य पर सर्वसाधारण के लिये सुलभ होंगे। ग्रंथमाला की बिक्री की आय इसी में लगाई जायगी। यों श्रीमती सूर्यकुमारी तथा श्रीमान् उमेदसिंह जी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञान-लाभ होगा।

# विषय-सूची


पृष्ठांक

आमुख ... ... ३
उर्दू ... ... २४
उर्दू की व्यापकता ... ... २५
* राजा शिवप्रसाद ... ... २५
* राजा लक्ष्मणसिंह ... ... २७
* भारतेंदु हरिश्चंद्र ... ... २९
* पंडित बालकृष्ण भट्ट ... ... ४१
पंडित प्रतापनारायण मिश्र ... ... ४५
पंडित बदरीनारायण चौधरी ... ४९
लाला श्रीनिवासदास ... ... ५१
ठाकुर जगमोहनसिंह ... ... ५३
आर्य-समाज और स्वामी दयानंद ... ५४
पंडित गोविंदनारायण मिश्र ... ... ५६
* बाबू बालमुकुंद गुप्त ... ... ६०
सन् १९०० ई० ... ... ६४
* पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ... ६६
पंडित अंबिकादत्त व्यास ... ... ७१
बाबू देवकीनंदन खत्री ... ... ७४
पंडित किशोरीलाल गोस्वामी ... ७७
पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ... ७६
पंडित माधव मिश्र ... ... ८२
सर्दार पूर्णसिंह ... ... ८४
* बाबू श्यामसुंदरदास ... ... ८७
* पंडित चंद्रधर गुलेरी ... ... ९३
* पंडित रामचंद्र शुक्ल ... ... ९८
पंडित पद्मसिंह शर्मा ... ... १०५


* इनके चित्र भी हैं।

| | | | पृष्ठांक |
|---|---|---|---|
| * बाबू जयशंकर प्रसाद | ... | ... | १०६ |
| * बाबू प्रेमचंद | ... | ... | ११५ |
| * राय कृष्णदास | ... | ... | १२४ |
| श्री वियोगीहरि | ... | ... | १३० |
| श्री चतुरसेन शास्त्री | ... | ... | १३५ |
| श्री शिवपूजन सहाय | ... | ... | १४२ |
| पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' | ... | ... | १४९ |
| श्री चंडीप्रसाद 'हृदयेश' | ... | ... | १५७ |
| श्री वृंदावनलाल | ... | ... | १६५ |
| * श्री जैनेंद्रकुमार | ... | ... | १७३ |
| उपसंहार | | | १८० |

---

* इनके चित्र भी हैं।

# प्रथम संस्करण की भूमिका

पुस्तक लिखने का मेरा यह प्रयास सफल न हुआ होता यदि मेरे मान्य पंडित रामचंद्र जी शुक्ल तथा बाबू श्यामसुंदरदास जी मेरी सहायता न करते। पुस्तक को शुद्धता एवं सुंदरता से प्रकाशित करने का समस्त श्रेय बाबू साहब को है। पंडित जी के 'परिचय' तथा विवेचनात्मक परामर्श के लिये मैं सदैव उनका आभारी रहूँगा।

अपनी पुस्तक के विषय में मैं कुछ विशेष न कहकर केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूँ कि—

"In some cases an eleventh hour attempt has been made to make the discussion more up-to-date... ......But altogether such a work must necessarily suffer, in the author's opinion, from the short-coming of being never exactly up-to-date. He therefore commends this work to the generous indulgence of the critical reader, not with any intention to minimise the personal criticism against himself, but rather with a view to secure a better reading for a work which, the author honestly believes, attempts to meet a much-felt need."

इसके अतिरिक्त जो त्रुटियाँ हमारे शुक्ल जी ने अपने 'परिचय' में बतलाई हैं उनका परिमार्जन मैं दूसरे संस्करण में यथासंभव करूँगा। कई कारणों से मैं अभी उनके विषय में कुछ नहीं कर सकता।

औरंगाबाद, काशी<br>
विजया दशमी, १९८७ वि० } जगन्नाथप्रसाद शर्मा

———

# द्वितीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण शीघ्र ही निकलेगा ऐसी मुझे आशा नहीं थी। यही कारण है कि इस भूमिका को लिखते समय बड़ा संकोच हो रहा है कि क्या लिखूँ। मैंने सोच रखा था कि ऐसा अवसर जब आयगा तब पुस्तक में बड़ी काट-छाँट करनी पड़ेगी और उन अनेक अशुद्धियों का शोधन कर दूँगा जो मेरी अनुपस्थिति के कारण प्रथम संस्करण में रह गई थीं। इधर अधिक अध्ययन के कारण विभिन्न लेखकों की रचनाओं का जो विशेष ज्ञान हुआ है उसका भी कोई सुंदर उपयोग करूँगा ऐसा विचार कर रखा था।

सहसा यह सुनकर कि "पुस्तक की एक भी प्रति नहीं है" मैं किं-कर्तव्य-विमूढ़ हो गया। समय की न्यूनता एवं कार्य की अधिकता का विचार करने पर मैंने यही उचित समझा कि इस समय पुस्तक को इसी रूप में छपने दूँ। यही कारण है कि इस संस्करण में पुस्तक के स्वरूप और विषय में कोई विचारणीय रूपांतर न दिखाई पड़ेगा। हाँ, मैंने इतना अवश्य किया है कि छापे की और भाषा संबंधी जो अनेक भूलें दिखाई पड़ती थीं उनका संशोधन कर दिया है। पुस्तक के आरंभिक अंश में कहीं-कहीं थोड़ा सा बढ़ाया-घटाया है परंतु ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं। पुस्तक में जिन न्यूनताओं का मैं स्वयं अनुभव कर रहा हूँ उनका परिहार अगले संकरण में कर सकूँगा, ऐसी मैं आशा करता हूँ।

औरंगाबाद, काशी<br>विजया दशमी, १९९० वि०

जगन्नाथप्रसाद शर्म्मा

# परिवर्धित संस्करण की भूमिका

समीक्षा के मूलतः दो रूप होते हैं—सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक। जिन आधारभूत तत्वों, मान्यताओं और विधान के अनुसार किसी विषय विशेष का निर्माण होता है उनका विश्लेषण, चिंतन और अध्ययन सिद्धांतालोचन है और उसी विधान का व्यावहारिक प्रयोग किसी रचना अथवा कृति में देखना अथवा उसी साध्य पर किसी के रूपाकारप्रकार की परीक्षा करना आलोचना का व्यावहारिक भेद है। दोनों में समीक्षक और पाठक को दो भिन्न प्रकार की परखों से काम लेना पड़ता है; उनकी बुद्धि भी दो ढंग, पद्धति अथवा शैली से विचरण करती है। लक्ष्य में भी अंतर रहता है और उपादेयता भी अन्य प्रकार की ही उत्पन्न होती है। यदि दोनों रूपों की प्रकृति का विचार किया जाय तो इतना स्थिर करने में विलंब नहीं लगेगा कि व्यावहारिक समीक्षा, सैद्धांतिक समीक्षा से कहीं अधिक उपयोगी और व्याख्या-परक होती है; साथ ही उसके द्वारा साहित्य के अंतरप्रवेश में बड़ी सरलता उत्पन्न हो जाती है। यह काव्य-दर्शन का क्रियाशील रूप है और शुद्ध सैद्धांतिक समीक्षा उसका चिंतन पक्ष।

शैली-समीक्षा में भी इन्हीं दोनो रूपों का प्रयोग समीचीन है। इस विचार से शैली के सिद्धांत पक्ष का विचार करने में क्रमशः इन विषयों की विवेचना आवश्यक होगी :—

शैली के अवयव – शब्दविन्यास, वाक्यरचना, प्रघट्टक, मुहावरा और लोकोक्ति, अलंकार-योजना।

शैलीगत गुण— प्रसाद, ओज, माधुर्य, लाक्षणिकता, प्रभवोत्पादकता एकरूपता।

शैलीगत अवगुण— व्याकरण-च्युति, क्रमदोष, अस्पष्टता, दुरूहता, रूक्षता, गृहीत प्रयोग, प्रादेशिकता।

रचना शैली— आरंभ और अंत, क्रमयोजना, विचार-गुंफन, इतिवृत्त कथन, वर्णनपद्धति, भावोद्रेक, परिहास और व्यंग।

शैली में विषय एवं व्यक्तित्व।

**शैली-समीक्षा** के उक्त विधान के आधार पर विभिन्न लेखकों की रचना-प्रणाली में प्राप्त विविध तारतमिक एवं व्यक्तिगत विशेषताओं की छानबीन ही उसका व्यावहारिक पक्ष होगा। कौन लेखक किस प्रकार के शब्दों को अधिक अपनाता है, उसकी वाक्य-रचना में क्या अपनापन दिखाई पड़ता है, वह मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग करता है अथवा नहीं और करता है तो किस अभिप्राय से, उसके अलंकार-योग में क्या वैचित्र्य मिलता है, उसमें शैली के गुणावगुण किस रूप में प्रसरित हैं अथवा उसकी रचना-शैली में विचार-पक्ष प्रबल है या भाव, परिहास और व्यंग—इत्यादि बातों का विश्लेषण ही शैली का व्यावहारिक चिंतन है। प्रस्तुत ग्रंथ में इसी व्यावहारिक समीक्षा का स्वरूप मिलेगा। हिंदी-गद्य के आरंभिक काल से ई० सन् १९३५ तक के विशिष्ट शैलीकारों का विवेचन एकत्र करने की चेष्टा यहाँ की गई है। इस ढंग से भाषाशैली के वृद्धिक्रम के निरूपण का भी अवसर मिल गया है और लेखकों के व्यक्तिगत स्वरूप का भी ज्ञान प्राप्त करने में कुछ सरलता हो सकी है।

ई० सन्० १९०० के आसपास तक तो वस्तुतः हिंदी गद्यशैली की परीक्षा केवल व्यक्तिगत पद्धति पर ही की जा सकती है। तत्कालीन लेखकों की कुछ, अपनी, कहाँ-कैसी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं और वह कहाँ तक शुद्धाशुद्ध लिखता है इतना ही जान लेना यथेष्ट मालूम पड़ता है। इसका मुख्य कारण यही है कि उस समय तक संपूर्ण गद्यात्मक अभिव्यंजना एक स्वरूप धारण कर रही थी। विविध क्षेत्रों में प्रयुक्त होकर भाषा की शक्ति और उद्भावना स्थिर हो रही थी। उस समय तक किसी विधान का निर्णय नहीं हुआ था। ऐसी स्थिति में कोई खास कसौटी अथवा वाग्विधान का प्रामाणिक मानदंड सामने रखकर उस समय की भाषाशैली की विवेचना संभव नहीं हो सकती। आगे चलकर अवश्य ही सैद्धांतिक आधार पर भाषाभंगिमा का तारतमिक वैविध्य स्फुट होता दिखाई पड़ता है। द्विवेदी जी के रचना-काल में जहाँ एक ओर लेखक विषय के निर्माण में संनद्ध हुआ वहीं उसके चिंतन और कथन का अपना एक प्रकार भी खड़ा होने लगा। यों तो ई० सन् १९१३ तक भी हिंदी-गद्य के क्षेत्र में केवल विषय-संकलन होता रहा और पाठकों के रुचि-प्रसार का कार्य चलता रहा। इसके उपरांत ही भाषा में प्रौढ़ता और एकरूपता को क्रमशः प्रश्रय मिला सका है।

यह समय जयशंकर प्रसाद, रामचंद्र शुक्ल और प्रेमचंद का है। साहित्य के क्षेत्र में इन समर्थ कृतिकारों के आते ही भाषा-शैली में भी

सुसंपन्नता बढ़ने लगी। अब भावात्मक, विचारात्मक, इतिवृत्तात्मक और वर्णनात्मक शैलियों के शुद्ध रूप दिखाई पड़े। द्विवेदी जी की कृपा से परिहास और व्यंगशैली प्रचलित हो चुकी थी। इसी काल में प्रतीक और लाक्षणिकता का योग लेकर चलनेवाली काव्यात्मक शैली भी चल निकली। इसे गोविंदनारायण मिश्र और बदरीनारायण चौधरी की लंबे वाक्योंवाली अलंकार-प्रधान कथन-प्रणाली से भिन्न समझना चाहिए। इसके प्रतिनिधि गद्यकाव्य के निर्माता राय कृष्णदास, वियोगीहरि इत्यादि हैं। गद्य-रचना का यह प्रौढ़ युग द्वितीय विश्वव्यापी युद्ध के पूर्व तक एकरस चलता रहा है। हिंदी साहित्य का सच्चा निर्माण-युग यही है और भाषाशैली का भी यही समय विकास-युग है।

भाषा के पूर्ण स्फुट रूप का दर्शन यदि करना हो तो आजकल की भिन्न-भिन्न विषयों की रचनाओं को विचारपूर्वक देखना चाहिए। उक्त त्रिरत्नों की दीप्ति लेकर चलनेवाला वर्तमान अब आकर अभिव्यंजना शैली को निखार सका है। सच बात यही है कि वस्तुतः अब समय आया है कि लेखक स्वतंत्रता एवं स्वच्छंदता से अपनी मौज और मस्ती में चलकर व्यक्तिगत ढंग से किसी विषय का स्थापन तथा निर्वाह कर सकता है। यह स्थिति भाषा-प्रसार की पूर्णता का द्योतक है। यों तो अभी वैज्ञानिक एवं विविध कला-कौशल संबंधी विद्याओं की चर्चा के लिये आवश्यक शब्दों और पदावली की न्यूनता खटकती ही है। फिर भी जहाँतक साहित्य की पारिभाषिक परिमिति का प्रश्न है भाषाशैली पूर्णतः परिपुष्ट और शक्तिमयी दिखाई पड़ती है। चिंतन, वर्णन, भावोद्बोधन, इत्यादि में कहीं-कोई अवरोध नहीं दिखाई पड़ता। वाग्विधान की सच्ची भंगिमा का पूरा विवरण और विवेचन उपस्थित करनेवालों को अब अवसर मिलेगा कि वे खुलकर विभिन्न शैलियों की रूपरेखा और प्रकृति का तारतम्य समझ या समझा सकें।

प्रस्तुत पुस्तक में ई० सन् १९३५ तक के केवल उन विशिष्ट कृतिकारों को ही विवेचना का विषय बनाया गया है जिनकी ख्याति तबतक पूर्ण रूप से स्थिर हो चुकी थी और जिनमें अधिक तात्विक परिवर्तन की विशेष संभावना आगे नहीं दिखाई पड़ी। किसी कारण से इसके पूर्व के संस्करणों में श्री चंडीप्रसाद 'हृदयेश', श्री वृंदावनलाल और श्री जैनेंद्रकुमार जी के विषय में नहीं लिखा जा सका था। इसलिये इस संस्करण में वह कमी पूरी कर दी गई है। इस प्रसंग में राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह और डाक्टर महाराजकुमार रघुबीरसिंह का उल्लेख आवश्यक मालूम पड़ता है। इनकी रचना-प्रणाली और भाषा-पद्धति में अपनापन है और यदि सूक्ष्मता से छानबीन

की जाय तो अनेक विशेषताएँ उद्घाटित हो सकती हैं। अतएव आगामी किसी संस्करण में इनकी स्तुति भी आ जानी चाहिए। इनके अतिरिक्त व्यंग-परिहास के लेखकों की चर्चा भी आवश्यक है; क्योंकि इस शैली का आरंभ द्विवेदी जी के समय में ही प्रतिष्ठित था और आगे बढ़कर भी इसका विकास-क्रम कभी अवरुद्ध नहीं हुआ। इसका स्वतंत्र साहित्यिक स्वरूप श्री अन्नपूर्णानंद एवं श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़ में दिखाई पड़ता है। समाज-शोधन और आलोचन के क्षेत्र में इस प्रकार के लेखकों की कृतियों का अपना महत्व है। साथ ही भाषाभंगिमा की दृष्टि से भी उनमें वक्रता एवं चमत्कार प्राप्त होता है। इसी प्रकार यदि आजतक के श्रेष्ठ कृतिकारों की भाषा-विषयक पूरी परीक्षा करनी हो तो महादेवी वर्मा, सुमित्रानंदन पंत, 'निराला' का उल्लेख नितांत वांछनीय होगा। इनके अतिरिक्त भगवतीचरण वर्मा, इलाचंद्र जोशी, 'अज्ञेय', 'अश्क' आदि की विवेचना विषय को और भी पूर्ण बना देगी। इन लेखकों के चिंतन और भाषा-प्रयोग में वैयक्तिकतापूर्ण निरालापन है—इसी को शैली का प्रमुख रूप समझना चाहिए। अब समय आ गया है कि ई० सन्० १९३५ से अबतक के समस्त कृतिकारों की भाषा-विषयक विशिष्टताओं को कसौटी पर कसा जाय और अधिकारपूर्वक, निर्भ्रांत होकर गुणावगुण की विशद विवेचना हो।

हिंदी की गद्य-शैली के इस वर्तमान युग की आलोचना करनेवाले विचारक का कार्य अपेक्षाकृत कठिन होगा—किसी प्रकार का निर्णय करते समय उसे विषय को विभिन्न विचारों से देखना पड़ेगा। जहाँ अभिव्यंजना के स्थूल और सूक्ष्म पक्षों का, भाषा और विचारचिंतन संबंधी तत्वों का अनुशीलन आवश्यकहो गा वहीं यह भी देखना होगा कि किस सीमा तक साहित्य और शैली में प्रवेश करनेवाले विभिन्न नवागत और व्यक्तिगत प्रयोग भाषा के प्रसार और शक्तिवर्धन के लिये उचित अथवा अनुचित हैं। विभिन्न प्रांतों के विविध लेखकों में प्राप्त होनेवाले व्यक्तिगत गुणावगुण ऐसे भी हो सकते हैं जिनका संबंध केवल व्याकरण अथवा रचना-शास्त्र से नहीं होगा बल्कि प्रांत और प्रदेश की अपनी प्रयोग-पद्धति विशेष से होगा। ऐसी स्थिति में विचारक और समीक्षक को स्पष्ट निर्णय करना पड़ेगा कि पूर्वी लेखक के 'भिड़ाकर' और 'अड़ंगा' को अथवा पछाँही कृतिकार के 'करना पड़ेगी' को अनुचित प्रयोग कहे अथवा शैली के पूर्वी और पछाँही प्रयोग। इसी ढंग की अनेक चिंतनीय बातें सामने आएँगी। आज की विश्वव्यापी राजनीतिक उलझनों के कारण समाज, साहित्य, धर्म, अध्यात्म—सभी क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न रूपाकारप्रकार की

समस्याएँ खड़ी होंगी। भाषाशैली की विवेचना भी संसार से अपने को पृथक् नहीं रख सकेगी। अतएव नवागत प्रयोगों के स्वरूप एवं परिधि का कुछ निश्चय नितांत वांछनीय है।

एक परिस्थिति पर और विचार करना आवश्यक है। शैली-विवेचना के अंतर्गत पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों और उनकी शैलियों के विषय में कुछ कहा जाना चाहिए कि नहीं—इस प्रश्न पर दो मत हैं। कुछ लोगों का विचार है कि भाषाशैली की यदि यथार्थ आलोचना करनी है तो प्रमाण के लिये लेखकों की निबंध-रचना ऐसी कृतियाँ ही ली जानी चाहिए। सच्ची भाषा-विषयक परीक्षा निबंध के रूप को देखकर ही हो सकती है। ऐसी स्थिति में तो बेचारे संपादक क्या नाटककार, उपन्यासकार और कहानीकार भी अलग पड़ जाएँगे। दूसरा वर्ग ठीक इसके विपरीत है। उसका कहना है कि किसी भाषा में शैलीसमीक्षा की परिधि इतनी कड़ाई से नहीं निर्धारित की जा सकी है। अतएव विशिष्टतापूर्ण रचना एवं चिंतन-शैली से युक्त संपादकों को भी इस प्रकार की समीक्षाओं में स्थान मिलना चाहिए। प्रस्तुत प्रसंग में ऐसी महत्वपूर्ण मतभिन्नता पर सहसा कुछ विचार करना विषय का अनावश्यक प्रसार होगा अतएव निर्णय पाठक स्वयं करें। इतना अवश्य है कि अधिकांश शैलीकार स्वयं संपादक रहे हैं और वर्तमान हिंदी में भी अंबिकाप्रसाद वाजपेयी, माखनलाल चतुर्वेदी, गणेशशंकर विद्यार्थी, बाबूराव विष्णु पराड़कर और कमलापति त्रिपाठी ऐसे संपादक हैं जिनकी रचनाओं में भाषा की सारी बनावट और सजावट अपने अपने ढंग की निराली है। उसमें लेखक का अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व झलकता है। इसी व्यक्तित्व का सांगोपांग विवेचन शैली-समीक्षा का प्रधान लक्ष्य है। ऐसी स्थिति में यदि कुछ विशिष्ट शैलीकार संपादकों को शैली-समीक्षा की परिधि के भीतर स्वीकार किया जाय तो क्या अनुचित होगा? इस विषय में भी अभीतक कोई स्थिर एकमत दिखाई नहीं पड़ा।

अंत में उन पाठकों और मित्रों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करना आवश्यक है जिन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ के अध्ययन-अध्यापन में योग दिया है। जिस समय इसका निर्माण हो रहा था उस समय इन पंक्तियों के लेखक को यह ज्ञान नहीं था कि इसका इतना भव्य स्वागत होगा और उचित-अनुचित सभी स्थानों में इसे इतना प्रवेश मिलेगा। ऐसी किसी भी रचना का इतना आदर होते देखकर स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या ग्रंथ इतना उत्तम है? अथवा इसका कोई अन्य और अंतरंग कारण भी है? इस

प्रश्न को लेकर यदि छानबीन की जाय तो निश्चय ही प्रकट हो जायगा कि प्रस्तुत पुस्तक में उत्तमता उतनी अधिक नहीं है जितनी अधिक उत्तम समीक्षकों की अकर्मण्यता। जिस समय आरंभ में यह पुस्तक प्रकाशित हुई तब से आजतक फिर किसी को इस विषय पर लिखते न पाकर दो ही बात समझनी चाहिए। या तो ऐसे विषयों की आवश्यकता नहीं स्वीकार है अथवा कर्मठ साहित्यिकों की श्रमसाध्य साधना की ओर प्रवृत्ति नहीं है। जो कुछ भी कारण हो—पर वह है विचारणीय।

औरंगाबाद, काशी
२६-१-५०

जगन्नाथप्रसाद शर्मा

——

# ग्रंथ का परिचय

हिंदी-गद्य की भाषा का स्वरूप स्थिर हुए बहुत दिन हो गए। उसके भीतर विविध शैलियों का विकास भी अब पूरा पूरा देखने में आ रहा है। यह समय आ गया है कि लेखकों की भिन्न भिन्न शैलियों की विशेषताओं का सम्यक् निरूपण और पर्य्यालोचन हो। इस ओर पहला प्रयत्न श्रीयुत पंडित रमाकांत त्रिपाठी, एम० ए०, अध्यापक जसवंत कालेज, जोधपुर, ने अपनी 'हिंदी-गद्य-मीमांसा' द्वारा किया। इसके लिये वे अवश्य धन्यवाद के पात्र हैं—चाहे उनके प्रकट किए हुए कुछ विचारों से बहुत से लोग संतुष्ट या सहमत न हों। इतना मानने में तो किसी को आगा-पीछा न होना चाहिए कि आरंभ से लेकर आज तक के बहुत से गद्य-लेखकों की भाषा-संबंधिनी कुछ विशेषताओं का व्यवस्थित दिग्दर्शन कराते हुए त्रिपाठी जी ने प्रत्येक के दो-दो तीन-तीन लेख नमूनों के तौर पर हमारे सामने रखे हैं। शैली-समीक्षक मिंटो की प्रसिद्ध अँगरेजी पुस्तक के ढंग पर उन्होंने आरंभ में भाषा-संबंधी कुछ विवेचन और शैलियों का सामान्य वर्गीकरण भी किया है। पर उनका मुख्य उद्देश्य नमूनों का संग्रह जान पड़ता है।

प्रस्तुत पुस्तक का लक्ष्य त्रिपाठी जी की पुस्तक के लक्ष्य से कुछ भिन्न है। नमूनों के रूप में लेखों का संग्रह इसका उद्देश्य नहीं। इसमें हिंदी-गद्य का विकास-क्रम दिखाकर भिन्न भिन्न लेखकों की प्रवृत्तियों के स्पष्टीकरण और वाग्विधान की विशिष्टताओं के अन्वेषण का अधिक और विस्तृत प्रयास किया गया है। लेखों के अंश स्थान स्थान पर निरूपित तथ्यों के उदाहरण-स्वरूप ही उद्धृत किए गए हैं। विवेचन कहाँ तक ठीक हुआ है, विशेषताओं की परख में कहाँ तक सफलता हुई है, इसका निर्णय तो भिन्न भिन्न लेखकों की वाग्विभूति का विशेष अनुभव करनेवाले महानुभावों के अनुमोदन द्वारा कुछ काल में ही हो सकेगा। पर इतना कहा जा सकता है कि बहुत-सी सलक्ष्य विशेषताओं की ओर ध्यान आकर्षित करके लेखक ने और सूक्ष्म अनुसंधान की आवश्यकता प्रकट कर दी है।

हिंदी के वर्तमान लेखकों में से कुछ में तो शैली की विशिष्टता उनकी निज की भाव-पद्धति और विचार-पद्धति के अनुरूप अभिव्यंजना

के स्वाभाविक विकास द्वारा आई है और कुछ में बाहर के अनुकरण द्वारा। विशिष्टता की उत्पत्ति के ये दोनों विधान भाषा में साथ साथ चलते हैं और आवश्यक हैं। पर शैली की विशिष्टता के विन्यास के पूर्व भाषा की सामान्य योग्यता अपेक्षित होती है। आजकल हिंदी लिखनेवालों की संख्या सौभाग्य से उत्तरोत्तर बढ़ रही है। पर यह देखकर दुःख होता है कि इनमें से बहुत पहले ही विशिष्टता के प्रार्थी दिखाई पड़ते हैं। शैली कोई हो, वाक्य-रचना की व्यवस्था, भाषा की शुद्धता और प्रयोगों की समीचीनता सर्वत्र आवश्यक है। जब तक ये बातें न सध जायँ तब तक लिखने का अधिकार ही न समझना चाहिए। इनके बिना भाषा लिखने-पढ़ने की भाषा ही नहीं है जिसकी शैली आदि का विचार होता है। न अज्ञता या कचाई कोई विशिष्टता कही जा सकती है, न दोष या अशुद्धि कोई नवीन शैली। अपनी बुद्धि की निष्क्रियता और भाषा की कचाई के बीच केवल देशी-विदेशी समीक्षाओं की शैली के अनुकरण द्वारा विशिष्टता-प्रदर्शन का प्रयत्न झूठी नकल या धोखेबाजी ही कहा जायगा। पर आजकल कोई पत्रिका उठाइए, उसमें कहीं न कहीं 'कवि-स्वप्न' आदि की बातें बड़े करामाती ढंग से, बड़ी गंभीर मुद्रा के साथ, ऐसे ऐसे वाक्यों में कही हुई मिलेंगी—

"वे अपने दिमाग के अंदर घुसते ही स्वप्न को अपने आलोक में अपना सौंदर्य्य न बिखेरने देकर अपने जादू से उसे तुरंत बेहोश कर दिए हैं।"

जब से श्रीयुत पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' से अपना हाथ खींचा तब से मैदान में नए नए उतरनेवाले लेखकों के लिये अपनी भाषा-संबंधिनी प्रारंभिक योग्यता की जाँच के लिये कोई साधन ही नहीं रह गया। लेखक तो लेखक, प्रयाग की एक मासिक पत्रिका ने अभी हाल ही में अपना अशुद्ध जीवन समाप्त किया है। आज हिंदी में मासिक पत्रिकाओं की कमी नहीं है। उनमें से दो-एक भी यदि पूरी चौकसी रखें तो सदोष भाषा का यह प्रवाह बहुत कुछ रुक सकता है।

वर्तमान गद्य-लेखकों की प्रवृत्तियों की ओर ध्यान देने पर तीन प्रकार की शैलियाँ लक्षित होती हैं--विचारप्रधान, भावप्रधान और उभयात्मक। एक ही लेखक की अंतर्वृत्ति कभी विचारोन्मुख होती है और कभी भावोन्मुख। अतः उसकी भाषा भी कहीं एक ढंग पकड़ती है, कहीं

दूसरा। पर सामान्य प्रवृत्ति के विचार से उसकी शैली उक्त तीन विभागों में से किसी एक के अंतर्गत रखी जा सकती है। बंगभाषा के प्रभाव से इधर भावात्मक भाषा-विधान की ओर बहुत से लेखकों का झुकाव दिखाई पड़ता है जिनमें से कई एक को पूरी सफलता भी प्राप्त हुई है। इस संबंध में मुझे यही कहना है कि भाषा की शक्ति का विकास दोनों क्षेत्रों में वांछित है—विचार के क्षेत्र में भी और भाव के क्षेत्र में भी। भाषा जब विचार की गति के रूप में चलती है तब पाठक नए नए तथ्यों तक पहुँचते हैं और जब भाव-संचरण के रूप में चलती है तब प्रस्तुत तथ्यों के प्रति उनके हृदय में आनंद, करुणा, हास, क्रोध इत्यादि जागरित होते हैं। ये दोनों विधान अंतःकरण के विकास के लिये आवश्यक हैं और भाषा की शक्ति सूचित करते हैं। मेरे विचार में इन दोनों के अपेक्षित योग में ही भाषा की पूर्ण विभूति प्रकट होती है।

पहली बात है तथ्यों का उद्घाटन, फिर उनके प्रति उपयुक्त भावों का प्रवर्त्तन। यदि भाषा विचार की पद्धति एकदम छोड़ देगी तो वह कुछ बँधी हुई बातों पर ही भावावेश की उछल-कूद तमाशे के ढंग पर दिखाया करेगी। उसमें न गुरुत्व रहेगा, न सचाई। भावों की सच्ची और स्वाभाविक क्रीड़ा के लिये ज्ञान-प्रसार द्वारा जब नई नई जमीन निकलती आती है तभी भाषा वास्तव में अपनी पूरी कला दिखाती जान पड़ती है। इस पुस्तक में लेखक ने बहुत कुछ मार्मिक दृष्टि से काम लिया है और लेखकों की बहुत सी विशेषताओं का अच्छा उद्घाटन किया है, यद्यपि बहुत से लेखकों के संबंध में एक ही ढंग की प्रचलित और रूढ़ पदावली कहीं कहीं स्वच्छंद समीक्षण का मार्ग छेंकती सी जान पड़ती है। इसका कारण, मेरे देखने में, सूक्ष्म विभेदों की व्यंजना के लिये अपेक्षित शब्द-सामग्री की कमी है। आशा है सूक्ष्म-दृष्टि-संपन्न लेखकों के सतत व्यवहार से मँजकर हमारी भाषा यह कमी शीघ्र पूरी कर लेगी।

अंत में मुझे यही कहना है कि शर्म्मा जी की इस कृति के भीतर शैली-समीक्षा के प्रवर्त्तन की बड़ी भव्य संभावना दिखाई पड़ती है जिससे आशा होती है कि हमारी हिंदी में साहित्य के इस अंग का स्फुरण भी बहुत शीघ्र उसी सजीवता के साथ होगा जिस सजीवता के साथ और और अंगों का हो रहा है। काशी-विश्वविद्यालय के भीतर उनके साथ मेरा जो संबंध रहा है उसके कारण मुझे

उनके इस सदुद्योग पर जितना हर्ष है उतना ही गर्व भी। मुझे पूरा भरोसा है कि वे हिंदी साहित्य-क्षेत्र के वर्तमान अंधाधुंध से न घबरा कर स्वच्छ दृष्टि के साथ उसके भीतर प्रवेश करेंगे और अपना कोई मार्ग निकालेंगे।

दुर्गाकुंड; काशी } रामचंद्र शुक्ल

———

# हिंदी की गद्य-शैली का विकास

साहित्य की भाषा का निर्माण सदैव बोलचाल की सामान्य भाषा से होता है। व्रज-भाषा का जो रूप काव्य-सर्जन में व्यवहृत हुआ वह बोलचाल से प्रसूत तो हुआ परंतु निरंतर कविता में ही परिमित रहने के कारण उसमें एक प्रकार की अगतिशीलता प्रवेश कर गई जिसके कारण भाषा का स्वच्छ प्रसार अन्य विषयों तक न बढ़ सका। उस काल में भी प्रांत-प्रांत की बोलियाँ विशेष थीं परंतु वह बोली जिसने आज हमारी राष्ट्र-वाणी का रूप धारण कर लिया है आठवीं और नवीं शताब्दी से ही पश्चिमी युक्तप्रांत के व्यवहार एवं बोलचाल की भाषा थी*। उस स्थान से क्रमशः मुसलमानों के विस्तार के साथ वह बोली भी इधर-उधर फैलने लगी। कालान्तर में वही समस्त उत्तर भारत की शिष्ट भाषा बन बैठी और संस्कृत एवं विकसित होकर आज खड़ी बोली कहलाती है।

साहित्यिक रचना में इस खड़ी बोली का पता कितने प्राचीन काल तक का लगता है यह प्रश्न बड़ी उलझन का है। आरंभ से ही चारण-कवियों का झुकाव शौरसेनी अथवा व्रज-भाषा की ओर था; अतः वीरगाथा काल के समाप्त होते-होते इसने अपनी व्यापकता और अपने साम्राज्य का विस्तार किया। कुछ अधिक समय व्यतीत न हो पाया था कि इस भाषा का भी प्रवेश काव्य-क्षेत्र में होने लगा। यों तो उस समय तक साहित्य की भाषा का स्वरूप अनियंत्रित एवं अव्यवस्थित था, परंतु यह तो निर्विवाद ही है कि चारण कवियों की अपेक्षा इस समय की भाषा बोलचाल के रूप को अधिक ग्रहण कर रही थी। अबुलहसन (अमीर खुसरो) और कबीरदास की रचनाओं में कई भाषाओं की खिचड़ी दृष्टिगोचर होती है। इस 'खिचड़ी' में एक भाग खड़ी बोली का भी है। धीरे-धीरे यह बोली केवल बोलचाल तक ही परिमित रह गई, और व्यापक रूप में साहित्य की भाषा अवधी तथा व्रज निर्धारित हुई।

इधर साहित्य में इस प्रकार व्रजभाषा का आधिपत्य दृढ़ हुआ, और उधर खड़ी बोली केवल बोलचाल ही के काम की बनकर पड़ी रही। परंतु संयोग पाकर बोलचाल की कोई भी भाषा साहित्य की भाषा बन बैठती है। पहले उसी में ग्राम्य गीतों की सामान्य रचना आरंभ

---

* देखिए 'द्विवेदी—अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ ४१८-२१

होती है। तत्पश्चात् वही विकसित होते-होते व्यापक रूप धारण कर सर्वप्रिय बन जाती है। यही अवस्था इस खड़ी बोली की भी हुई। जब तक यह परिमित परिधि में पड़ी रही होगी तब तक इसमें ग्राम्य गीतों और अन्य प्रकार की साधारण रचनाओं का ही प्रचलन रहा होगा, जिसका लिखित रूप अब प्राप्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त उसको इस योग्य बनाने की किसी ने चेष्टा भी नहीं की कि उसका उपयोग साहित्यिक रचनाओं में हो सके। सारांश यह कि एक ओर तो परिमार्जित होकर व्रज-भाषा साहित्य की भाषा बनी और दूसरी ओर यह खड़ी बोली अपने जन्मस्थान के आस-पास न केवल बोल-चाल की साधारण भाषा के रूप में प्रयुक्त होती रही, वरन् इसमें पढ़े-लिखे मुसलमानों द्वारा कुछ साधारण रूप की पद्य-रचनाएँ भी होने लगीं।

शारंगधर की रचनाओं में भी कहीं-कहीं 'सहसा रे कंत! मेरे कहे' ऐसे वाक्यांश प्राप्त हैं परंतु खड़ी बोली का सर्वप्रथम व्यावहारिक तथा व्यवस्थित प्रयोग हमको अमीर खुसरो (जन्म सन् ई० १२५५) की कविताओं में मिलता है। इनकी रचनाओं में भाषा का जो पुष्ट और व्यावहारिक रूप दिखाई पड़ता है वही इसको प्रमाणित करने के लिए यथेष्ट है कि उनके पूर्व भी इस प्रकार की रचनाएँ थीं, जो साधारण जनता के मनोविनोद के लिये लिखी गई होंगी। अस्तु; खुसरो की कविता में खड़ी बोली का रूप बड़ा ही सुंदर दिखाई पड़ता है:—

> एक कहानी मैं कहूँ, तू सुन ले मेरे पूत।
> बिना परों वह उड़ गया, बाँध गले में सूत॥ (गुड्डी)।
> श्याम बरन और दाँत अनेक, लचकत जैसी नारी।
> दोनों हाथ से खुसरो खींचे, और कहे तू आरी॥ (आरी)

खुसरो की ये ऊपर उद्धृत दोनों पहेलियाँ आजकल की खड़ी बोली के अति समीप हैं। वस्तुतः ये जितनी प्राचीन हैं उतनी दिखाई कदापि नहीं पड़तीं। 'कहूं', 'सुनले', 'मेरे', 'खींचे', 'उड़ गया', 'बाँध', 'और', 'कहे' इत्यादि रूप इसकी आधुनिकता के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। ऐसी अवस्था में यह कहना अनुचित न होगा कि खुसरो ने खड़ी बोली की कविता का आदि-रूप सामने उपस्थित किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने आधुनिक खड़ी बोली का बीज निक्षेपण किया।

मुसलमानों के इधर-उधर फैलने पर खड़ी बोली अपने जन्म-स्थान के बाहर भी शिष्ट-वर्ग की भाषा हो चली। लिखित साहित्य में खुसरो के उपरांत कबीर (जन्म १४५६) तथा निर्गुण-संप्रदाय के अन्य लेखकों ने इस भाषा को बहुत कुछ अपनाया। उनका ध्येय जन-साधारण में तत्वोपदेश करना था; अतः उस समय की सामान्य भाषा का ही ग्रहण व्यावहारिक एवं युक्ति-युक्त था। कबीर ने यही किया भी। यों तो उनकी भाषा में खड़ी बोली अवधी, पूरबी (बिहारी), राजपूतानी, पंजाबी आदि कई बोलियों का मिश्रण है; परंतु खड़ी बोली का पुट उसमें स्पष्ट झलकता है। उनकी भाषा में पूरबीपन का पाया जाना स्वाभाविक है। उनके पूर्व तक साहित्यिक भाषा का संयमन एवं व्यवस्था नहीं हुई थी। जिस मिश्रित भाषा का आश्रय कबीर ने लिया वही उस काल की प्रामाणिक भाषा थी। उसमें कई प्रांतीय बोलियों की छाप रहने पर भी वर्तमान खड़ी बोली की आरंभिक अवस्था का रूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

उठा बगूला प्रेम का, तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनका से मिला, तिनका तिनके पास॥
घरबारी तो घर में राजी, फक्कड़ राजी बन में।
ऐंठो धोती पाग लपेटी, तेल चुआ जुलफन में॥

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि 'उठा', 'उड़ा', 'से' मिला', 'ऐंठी', 'लपेटी' इत्यादि का आजकल की भाषा से कितना अधिक संबंध है। इस प्रकार कहने का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि उस समय सर्वत्र खड़ी बोली का ही प्राधान्य था। इन अवतरणों के आधार पर केवल इतना ही कहना है कि साहित्य की भाषा से भिन्न बोलचाल की एक सामान्य भाषा भी अपने क्रम से चली आ रही थी। समय-समय पर इस सामान्य भाषा—खड़ी बोली का उपयोग साहित्यिक रचनाओं में यदा-कदा होता रहा। खड़ी बोली के अनुराग की यह धारा कभी टूटी नहीं। ब्रजभाषा की धारावाहिक प्रगति में भी रहीम, सीतल, भूषण, सूदन आदि कवियों की रचनाओं में - स्थान-स्थान पर—खड़ी बोली की सुंदर झलक दिखाई देती है, परंतु ब्रजभाषा के बाहुल्य में उनका पता नहीं लगता। आज बीसवीं शताब्दी में जिस खड़ी बोली का इतना व्यापक प्रसार दिखाई पड़ता है, उसका इतिहास इस विचार से बहुत प्राचीन है।

जब मुसलमानों का आगमन भारतवर्ष में हुआ तो उनके संमुख राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक समस्याओं के अतिरिक्त यह प्रश्न भी खड़ा हुआ कि यहां की प्रतिष्ठित एवं प्रयुक्त भाषा के साथ वे अपना मेल कैसे बैठाएँ। इतना तो उनकी समझ में तुरंत ही आ गया कि वे अब उस भाषा का व्यवहार नहीं कर सकते थे, जिसका इतने दिनों से अपने आदिम स्थानों में करते आए थे। स्वभावतः उन्हें अपनी भाषा के साथ हिंदी को भी अपनाना पड़ा। अतः जिन्हें साहित्य का निर्माण अभीष्ट था उन्होंने व्रजभाषा और अवधी की शरण ली। इसी प्रवृत्ति का यह परिणाम हुआ है कि सूफ़ी कवियों ने हिंदी में रचना की है। इन कवियों ने अपनी रचनाओं में बड़ी हृदयस्पर्शी और मार्मिक अनुभूति की व्यंजना की है। इनके अनुराग के कारण हिंदी में कई सुंदर ग्रंथ लिखे गए जिनमें अधिकांश उत्तम और भावुकता-पूर्ण हैं। कुतुबन, मलिक मुहम्मद जायसी, उसमान, शेख नबी, कासिम शाह, नूरमुहम्मद, फाजिलशाह प्रभृति ने एक से एक उत्तम रचनाएँ कीं। इन सरसहृदयों के द्वारा हिंदी में एक विशेष प्रकार के काव्य का निर्माण हुआ। इनके अतिरिक्त भी कितनी ही अन्य रचनाएँ हैं, जो एक से एक उत्तम हैं। मलूकदास, रहीम, रसखान इत्यादि ने स्थान-स्थान पर कितने हिंदू कवियों से कहीं अधिक मधुर और प्रसादगुण-पूर्ण कविताएँ लिखी हैं। जायसी और रसखान प्रभृति कवियों का भाषा पर भी सुंदर अधिकार था। इन लोगों की रचनाएँ पढ़ने पर शीघ्रता से इसका निश्चय नहीं किया जा सकता कि ये मुसलमान की ही लेखनी से उत्पन्न हुई हैं।

मुसलमानों की राजनीतिक सत्ता का निरंतर प्रसार होता रहा। जिस समय यह विस्तार बढ़ते-बढ़ते उत्तर से दक्षिणात्य प्रांतों तक आया उस समय उनके साथ खड़ी बोली भी विस्तार पाने लगी। उत्तरी भारत की स्थिति, उत्पात और अशान्ति पूर्ण होने के कारण काव्य-स्फुरण के लिए अनुकूल न थी। दक्षिण में क्रम से राज्य के सुव्यवस्थित हो जाने पर काव्य और अन्य कलाओं का प्रेम आरंभ हुआ। उस आरंभिक काल में वहाँ जो भाषा व्यवहृत हुई उसका रूप वही था जो उत्तर भारत की तत्कालीन व्यावहारिक भाषा थी। दक्षिण में नवागत मुसलमानों के परिमित क्षेत्र के भीतर तथा इन नवीन

मुसलमानों के राज्य से संबद्ध हिंदुओं के व्यवहार में भाषा का उत्तरी रूप ही चल रहा था। यही कारण है कि अरबी-फारसी में काव्य-रचना के साथ-साथ साधारण और व्यावहारिक भाषा हिंदी-उर्दू (रेखता) में भी रचनाएँ होती थीं। इस रेखता में लिखी हुई कविताओं की भाषा प्रायः अमीर खुसरो और कबीर की भाषा की परंपरा में आती है और खड़ी बोली की आरंभिक रूप-रेखा निश्चित करने में सहायक होती है।

सं० १६३७ वि० में गोलकुंडा के शासक सुलतान इब्राहीम की मृत्यु हो जाने पर उसका पुत्र मुहम्मद कुली कुतुबशाह राज्याधिकारी हुआ। वह कला-प्रेमी एवं कवि था। उसकी रचनाओं में रेखता का जो स्वरूप प्राप्त है उसे वर्तमान हिंदी से भिन्न नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें प्रयुक्त विभक्तियों क्रियापदों एवं संज्ञाओं और सर्वनामों का वही अथवा उसी का पूर्वरूप है जो वर्तमान काल में प्रयुक्त हो रहा है। यहां दो-चार उद्धरण दिए जाते हैं। उसके स्वरूप में संस्कृत और हिंदीपन ही अधिक दिखाई पड़ता है। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रस्तुत कवि की संपूर्ण रचनाएँ इसी प्रकार की भाषा में हैं। हाँ रीति, विनती', 'पिया', 'सेज', 'परम', 'भाये', 'विरह', सतावे', 'नयन', 'दिसता', 'सेती', सखी', 'सदा', 'मद', जैकुज' (जो कुछ), गोत', 'जगत', 'मेघ', 'बास', इत्यादि अनेकानेक शब्दों में जो संस्कृतपन तथा तद्भवता है वही इस बात का द्योतक है कि तबतक वर्तमान उर्दू की मुसलमानी नहीं हुई थी। उस समय की भाषा वर्तमान हिंदुस्तानी का आदर्श एवं निर्मल रूप थी। जैसेः—

तुम बिनु रहा न जावे अन नीरकुज न भावे।
विरहा किता सतावे मन सेति मन मिलादो॥
उँनींदी हैं मुंज नयन तुज याद सेती।
कहो तुम नयन में है कां की खुमारी॥
सँपूरन है तुज जोत सों सब जगत।
नहीं खाली है नूर थे कोई शै॥ इत्यादि। *

इसके अतिरिक्त इस परंपरा में उर्दू के आरंभिक काव्यकार अधिकतर दक्षिण के ही थे। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में दक्षिण

* उर्दू का प्रथम कवि (ले० ब्रजरत्नदास) नागरी-प्रचारिणी पत्रिका।

में कई कवि हुए। उनकी कविताओं के आधार पर यह सिद्ध होता है कि मुसलमानी रहन-सहन के कारण दक्षिण में भी खड़ी बोली का अच्छा प्रचार हो गया था। उन मुसलमान लेखकों और कवियों में भाषा-संबंधी पक्षपात उस समय तक नहीं आया था। हाँ इतना तो था कि भाषा में परिवर्तन हो रहा था और वह निरंतर विकासोन्मुख बनी रही। इस शताब्दी के उद्धरणों में एक बात अवश्य दिखाई देगी कि पूर्व शताब्दी के प्राचीन रूपों में परिमार्जन किया गया है। पूर्व के कुतुबशाह के प्रयुक्त 'सेती', 'थे', 'छ-भ' के स्थान पर 'ज' के आधिक्य इत्यादि में निरंतर विकासपूर्ण परिवर्तन होता जा रहा था। फिर भी वे प्रचलित बोलचाल की खड़ी बोली को ही अपनी भाषा मानते थे। 'पिया', 'वैराग', 'भभूत', 'जोगी', 'अंग', 'जगत', 'रीति', 'सूँ', 'अँखडियाँ' इत्यादि हिंदी के शब्दों का प्रयोग वे अधिक करते थे। उनकी रचनाओं में स्थान-स्थान पर फ़ारसी और अरबी के शब्द भी आ जाया करते थे जो कि बिलकुल स्वाभाविक ही था। यदि वे उसे बचाने का प्रयत्न करते तो उनकी रचनाओं में कृत्रिमता आने तथा उनके अस्वाभाविक लगने का भय था। उन कवियों की भाषा के कुछ रूप देखिए –

पिया बिन मेरे तईं वैराग भाया है जो होनी हो सो हो जावे।
भभूत अब जोगियों का अंग लाया है जो होनी हो सो हो जावे॥

—अशरफ़

हम ना तुमको दिल दिया तुम दिल लिया औ दुख दिया।
तुम यह किया हम वह किया यह भी जगत की रीति है॥

—सादी

दिल वली का ले लिया दिल्ली ने छीन।
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सूँ॥

टुक वली को सनम गले से लगा।
खुदनुमाई न कर खुदा से डर॥

तुम अँखडियाँ के देखे आलम खराब होगा।

—शाह वली-अल्लाह

वली साहब दक्षिण से उत्तर भारत में चले आए। उस समय यहाँ मुहम्मदशाह शासन कर रहा था। वली के दिल्ली में आते

ही लोगों में काव्य-प्रेम की धुन आरंभ हुई। इसी कारण प्रायः लोग उर्दू-कविता का आरंभ वली से मानते हैं। उस काल की मुसलमानी काव्य-रचना के क्षेत्र में कुछ दिनों तक तो खड़ी बोली का प्रयोग होता रहा; परंतु जैसे-जैसे इन मुसलमान कवियों की वृद्धि होती गई, उनमें विदेशीपन आता गया और उत्तरोत्तर उनकी कविताओं में अरबी और फ़ारसी शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा। संवत् १७६८ से १८३७ तक आते-आते इन कवियों की रचनाओं में अरबी और फ़ारसी का मेल अधिक हो गया। यों तो उस काल के मिर्जा मुहम्मद रफी ( सौदा ) की रचनाओं में से कोई-कोई तो वस्तुतः उसी प्रकार की हैं जैसे खुसरो की भी :—

अजब तरह की है एक नार।
उसका मैं क्या करूँ विचार॥
वह दिन डूबे पी के संग।
लागी रहे निसी के अंग॥

मारे से वह जी उठे बिन मारे मर जाय।
बिन भावों जग जग फिरे हाथों हाथ बिकाय॥

'नार', 'विचार', 'पी', 'संग', 'निसि', 'अंग', 'बिन', 'जी उठे', 'फिरे', 'जग', 'बिकाय' इत्यादि शब्दों का कितना विशुद्ध प्रयोग है। इसी प्रकार के शब्द, हम देख चुके हैं कि, अशरफ़, सादी और वली की कविता में भी मिलते थे। साधारणतः सौदा के समय में भाषा का यह रूप न था। उस समय तक अरबी और फ़ारसी के शब्दों ने अपना आधिपत्य जमा लिया था, परंतु सौदा की इन पंक्तियों में हमने स्पष्ट देख लिया कि जो धारा खुसरो और कबीर के समय से निःसृत हुई थी वह इस समय तक बहती चली आई।

साहित्य के इतिहास में देखा जाता है कि प्रायः भाषाओं का आरंभ कविता की रचनाओं से होता है। साहित्य का प्राथमिक रूप सामान्य भावों की मधुर व्यंजना पर निर्भर रहता है। उस अवस्था में साहित्य केवल मनोविनोद की सामग्री समझा जाता है। आरंभिक युग में यह आवश्यक नहीं समझा जाता कि काव्य में मानव जीवन की चिरंतन अनुभूतियों का विश्लेषण अथवा आलोचन हो। लोगों के विचारों का इतना परिष्कार और विकास

भी नहीं हुआ रहता कि गूढ़ मनन की ओर ध्यान दिया जाय। इतना ही अलम् समझा जाता है कि भाव-प्रकाशन की विधि कुछ मधुर हो और उसमें कुछ 'लय' हो जिसे साधारणतः गाने का रूप मिल सके। इसी लिए हम देखते हैं कि काव्य में सर्वप्रथम गीत-काव्यों का ही विकास होता है। यही नियम हम खड़ी बोली के विकास में भी पाते हैं। पहले प्रहेलिकाओं और कहावतों के रूप में काव्य का आरंभ खुसरो से होता है। तदुपरांत क्रमशः आते-आते अकबर के समय तक हमें गद्य का स्वरूप किसी न किसी रूप में व्यवहृत होते दिखाई पड़ता है। गंग की लेखनी से यह रूप निकला कहा जाता है—"इतना सुनके पातसाहिजी श्री अकबर साहजी आध सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बाँचना पूरन भया। आम खास बरखास हुआ।"

इसी प्रकार गद्य चलता रहा और जहाँगीर के शासन-काल में जो हमें जटमल की लिखी 'गोरा बादल की कथा' मिलती है उसमें 'चारन', 'भया' और 'पूरन' ऐसे बिगड़े हुए रूप न मिलकर शुद्ध 'नमस्कार', 'सुखी', 'आनंद' आदि तत्सम शब्द मिलते हैं,—"गुरु व सरस्वती को नमस्कार करता हूँ।" "उस गाँव के लोग भी बहोत सुखी हैं। घर-घर में आनंद होता है।" यदि इसी प्रकार खड़ी बोली का विकास होता रहता तो आज हमारा हिंदी-साहित्य भी संसार के अन्य साहित्यों की भाँति समृद्ध और भरा-पुरा दिखाई पड़ता; परंतु ऐसा हुआ नहीं। इसके कई कारण हैं। पहली बात तो यह है कि उस काल में व्रजभाषा की प्रधानता थी और विशेष रुचि कल्पना तथा काव्य की ओर थी। लोगों की प्रवृत्ति विचार-विमर्श एवं तथ्यातथ्य निरूपण की ओर न थी, जिसके लिए गद्य अपेक्षित होता है। दूसरे वह काल विज्ञान के विकास का न था। उस समय लोगों को इस बात की आवश्यकता न थी कि प्रत्येक विषय पर आलोचनात्मक दृष्टि रखें। वैज्ञानिक विषयों का विवेचन साधारणतः पद्य में नहीं हो सकता; उनके विचार-विस्तार के लिए गद्य का योग आवश्यक होता है। तीसरा कारण गद्य के प्रस्फुटित न होने का यह था कि उस समय कोई ऐसा धार्मिक आंदोलन उपस्थित न हुआ जिसमें वाद विवाद की आवश्यकता पड़ती और जिसके लिए प्रौढ़ गद्य का होना आवश्यक समझा जाता। उस समय न तो महर्षि दयानंद

सरीखे धर्म-प्रचारक हुए और न ईसाइयों को ही अपने धर्म-प्रचार का सुयोग मिला; अन्यथा गद्य का विकास ठीक उसी प्रकार होता जैसा कि आगे चलकर हुआ। किसी भी कारण से हो, गद्य का प्रसार उस समय स्थगित रह गया। काव्य की ही धारा प्रवाहित होती रही और उसके लिए व्रजभाषा का समतल धरातल अत्यंत अनुकूल था।

व्रजभाषा में केवल काव्य-रचना होती आई हो, यह बात नहीं है। गद्य भी उसमें लिखा गया था, किंतु नाम मात्र को। संवत् १४०० के आसपास के लिखे बाबा गोरखनाथ के कुछ ग्रंथों की भाषा सर्व-प्राचीन व्रजभाषा के गद्य का प्रमाण कही जाती है। उसमें प्राचीनता के परिचायक लक्षणों की भरमार है; जैसे—"स्वामी तुम्ह तो सतगुरु, अम्हे तो सिष सबद तो एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मन न करिबा रोस।" इस अवतरण के 'अम्हे', 'तुम्ह', 'पूछिबा' और 'करिबा' आदि में हम भाषा का आरंभिक रूप देखते हैं। यह भाषा कुछ अधिक अस्पष्ट भी नहीं है। इसके उपरांत हम श्रीविट्ठल की वार्ताओं के पास आते हैं। उनमें व्रजभाषा के गद्य का हमें वह रूप दिखाई पड़ता है जो सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में प्रचलित कहा जाता है। अतः इन वार्ताओं में भी, जो उसी बोलचाल की भाषा में लिखी गई हैं, स्थान-स्थान पर अरबी और फ़ारसी शब्द आ गए हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक था। यह सब होते हुए भी हमें इन वार्ताओं की भाषा में स्थिरता और भावव्यंजना में अच्छी शक्ति दिखाई पड़ती है। जैसे—"सो श्री नंदगाम में रहते हतो। सो ब्राह्मण खंडन शास्त्र पढ़ो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सबको खंडन करतो; ऐसो वाको नेम हतो। याही तें सब लोगन ने वाको नाम खंडन पार्‌यो हतो।"

यदि व्रजभाषा के ही गद्य का यह रूप स्थिर रखा जाता और इसके भाव-प्रकाशन की शैली तथा व्यंजना-शक्ति का क्रमशः विकास और परिष्कार होता रहता तो संभव है कि एक अच्छी शैली का अभ्युदय होता; परंतु ऐसा हुआ नहीं। इसकी दशा सुधरी नहीं, बिगड़ती ही गई। शक्तिहीन हाथों में पड़कर इसकी बड़ी दुर्गति हुई। पहली बात तो यह है कि इस गद्य का भी पीछे कोई विकसित रूप नहीं मिलता, और जो मिलता भी है वह इससे भी अधिक लचर और तथ्यहीन। इन वार्ताओं के अतिरिक्त और कोई स्वतंत्र ग्रंथ

नहीं मिलता। कुछ टीकाकारों की भ्रष्ट और अनियंत्रित टीकाएँ अवश्य मिलती हैं। ये टीकाएँ इस बात को प्रमाणित करती हैं कि क्रमशः इस गद्य का ह्रास ही होता गया, इसकी अवस्था बिगड़ती ही गई और इसकी व्यंजनात्मक शक्ति दिन-पर-दिन नष्ट होती गई। टीकाकार मूल पाठ का स्पष्टीकरण करते ही नहीं थे वरन् उसे और अबोध और दुर्गम बना देते थे। "भाषा ऐसी अनगढ़ और लद्धड़ होती थी कि मूल में चाहे बुद्धि काम कर जाय पर टीका के चक्रव्यूह में से निकलना दुर्घट ही समझिए।"*

ऊपर कहा जा चुका है कि मुगलों के शासनकाल में ही खड़ी बोली का प्रचार दक्षिण प्रदेशों में और समस्त उत्तर भारत के शिष्ट समाज में था, परंतु यह भाषा साहित्य-रचना में प्रयुक्त नहीं थी। अभी तक उत्तर के प्रदेशों में प्रधानता युक्तप्रांत की थी, परंतु जिस समय शाही शासन की व्यवस्था विच्छिन्न हुई और इन शासकों की दुर्बलताओं के कारण चारों ओर से उन पर आक्रमण होने लगे उस समय राजनीतिक संगठन भी छिन्न-भिन्न होने लगा। एक ओर से अहमदशाह दुर्रानी की चढ़ाई ने और दूसरी ओर से मराठों ने दिल्ली के शासन को हिलाना आरंभ कर दिया। अभी तक जो भाषा दिल्ली-आगरा और उनके पासवाले प्रदेशों के व्यवहार में थी वह इधर-उधर फैलने लगी। क्रमशः इसका प्रसार समस्त उत्तरी प्रांतों में बढ़ चला। इस समय अँगरेजों का अधिकार और प्रवेश उत्तरोत्तर बढ़ने लगा था। अतः दिल्ली और आगरा की प्रधानता अब बिहार और बंगाल की ओर प्रसरित हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि वह जीवन-धारा और भाषा जो केवल युक्तप्रांत के पश्चिमी भाग में बँधी थी, धीरे-धीरे संपूर्ण युक्तप्रांत, बिहार और बंगाल में फैल गई। इधर मुसलमानों ने अपनी राजधानियाँ बिहार और बंगाल में स्थापित की, उधर बंगाल में अँगरेजों की प्रधानता बढ़ ही रही थी। फलतः व्यापार के केन्द्र धीरे-धीरे पश्चिम से पूर्व की ओर प्रसरित होने लगे। इस प्रसार-विस्तार का प्रभाव भाषा की व्यवस्था पर भी पड़े बिना न रहा। वह खड़ी बोली, जो अब तक पश्चिमी भाग में ही परिमित थी, समस्त उत्तरी भारत में अपना अधिकार जमाने में समर्थ हुई।

---

* हिंदी साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल।

भारतवर्ष में अँगरेजों के आते ही यहाँ की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थित में विप्लव उपस्थित हो उठा। राज्य-संस्थापन तथा आधिपत्य-विस्तार की उनकी महत्वाकांक्षा ने यहाँ की सामूहिक वस्तुस्थिति में उलट-फेर उत्पन्न कर दिया। उनके नित्य के संसर्ग ने तथा रेल-तार की नूतन सुविधाओं ने यहाँ के रहन-सहन और आचार-विचार में परिवर्तन ला खड़ा किया। नवागतों के साथ-साथ उनका धर्म भी लगा रहा। ईसाई—सम्प्रदाय का दल धर्मप्रचार की चेष्टा कर रहा था। धर्म-प्रवर्तन की इस चेष्टा ने धार्मिक जगत् में एक आंदोलन उपस्थित किया। सामूहिक दृष्टि से विचार करने पर एक शब्द में कहा जा सकता है कि अब विज्ञान का युग आरंभ हो गया था। भारतीय जीवन में भौतिकवाद अथवा बुद्धिवाद का प्रवेश होने लगा था और लोगों के विचारों में जाग्रति आ चली थी। उन्हें यह ज्ञात हो चला था कि उनका संबंध केवल अपने देश से ही नहीं है वरन् भारतवर्ष जैसे दूसरे राष्ट्र भी हैं, सृष्टि के इस विस्तार से उनके संबंध का अविच्छिन्न रहना अनिवार्य है। ऐसी अवस्था में समाज की परंपराभुक्त वस्तुस्थिति में आमूल परिवर्तन के चिन्ह दिखाई पड़ने लगे। इस सामाजिक विकास के साथ ही साथ भाषा की ओर भी ध्यान जाना नितांत स्वाभाविक हो गया। इन्हीं दिनों यंत्रालयों में मुद्रण-कार्य आरंभ हुआ। इसका भी प्रभाव नवीन साहित्य के सृजन-कार्य पर अधिक पड़ा।

अभी तक जो साहित्य प्रचलित था वह केवल पद्य-मय था। जो धारा ग्यारहवीं अथवा बारहवीं शताब्दियों में प्रवाहित हुई थी वह आज तक अप्रतिहत रूप में चली आ रही थी। एक समय था, जब कि यह प्रगति सफलता के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुकी थी, किंतु अब इसके क्रमागत ह्रास का समय था। इस काल की परिस्थिति इस बात को सूचित करती थी कि अब किसी 'तुलसी', 'सूर' और 'बिहारी' के होने की संभावना नहीं थी—यों तो इस समय भी कवियों का अभाव नहीं था। ग्रंथों की रचना का क्रम इस समय भी चल रहा था और उनके पाठकों तथा श्रोताओं की कमी भी नहीं थी; किंतु अब यह स्पष्ट भाषित होने लगा था—कि केवल पद्य-रचना से काम नहीं चलेगा। पद्य-रचना साहित्य का एक अंग-विशेष है, उसके अन्य अंगों की भी व्यवस्था करनी पड़ेगी, और बिना ऐसा

किए उद्धार नहीं हो सकता। यह लोगों की समझ में आने लगा कि वाद-विवाद, धर्मोपदेश और तथ्यातथ्य-निरूपण के लिए पद्य अनुपयोगी है। इन बातों के लिए गद्य की शरण लेनी पड़ेगी — यह स्पष्ट दिखाई पड़नेलगा।

किसी काल-विशेष को जिन असुविधाओं का सामना करना पड़ता है उन्हें वह स्वयं अपने अनुकूल बना लेता है। उसके लिए किसी व्यक्ति-विशेष किंवा जाति-विशेष को प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जब कोई आवश्यकता उत्पन्न होती है तब उसकी पूर्ति के साधन भी अपने आप उत्पन्न हो जाते हैं। यही अवस्था उस समय गद्य के विकास की भी हुई। यदि उस काल-विशेष को गद्य-रचना की आवश्यकता पड़ी तो साधन सामने ही थे। विचारणीय विषय यह था कि इस समय ब्रजभाषा के गद्य का पुनरुद्धार करना समीचीन होगा अथवा शिष्ट समाज में प्रचलित खड़ी बोली के गद्य का। आधार-स्वरूप दोनों का भंडार एक ही सा दरिद्र था। दोनों में ही संचित द्रव्य – लेख-सामग्री – बहुत न्यून मात्रा में उपलब्ध थी। ब्रजभाषा के गद्य में यदि टीकाओं की गद्य-शृंखला को लेते हैं तो उसकी अवस्था कुल मिलाकर नहीं के समान हो जाती है। कहा जा चुका है कि इन टीकाओं की भाषा इतनी लचर, अनियंत्रित और अस्पष्ट थी कि उसको ग्रहण नहीं किया जा सकता था। उसमें अशक्तता इतनी अधिक मात्रा में थी कि भाव-प्रकाशन तक उससे भली भाँति नहीं हो सकता था।

खड़ी बोली की अवस्था ठीक इसके विपरीत थी। आधार-स्वरूप उसका भी कोई इतिहास न रहा हो, यह दूसरी बात है, परंतु जन-साधारण उस समय इसके रूप से इतना परिचित और हिला-मिला था कि इसे अपनाने में उसे किसी प्रकार का संकोच न था। दिन-रात लोग बोलचाल में इसी का व्यवहार करते थे। किसी प्रकार के भाव-व्यंजन में उन्हें कुछ अड़चन नहीं पड़ती थी। एक दूसरा विचारणीय प्रश्न यह था कि नवागंतुक अँगरेज नित्य बोल-चाल की भाषा सुनते-सुनते उससे अभ्यस्त हो गए थे। अब उनके सम्मुख दूर-स्थित ब्रजभाषा का गद्य 'एक नवीन जंतु' था। अतएव उनकी प्रवृत्ति भी उस ओर सहानुभूति-शून्य सी थी। अँगरेजों के ही समान मुसलमान भी उसे अस्वीकार करते थे, क्योंकि आरंभ से ही

वे खड़ी बोली के साथ संबद्ध थे। यदि इस समय भी व्रजभाषा के गद्य के प्रचार की चेष्टा की जाती तो, संभव है, इंशाअल्लाखाँ न हुए होते। एक और प्रश्न लोक-रुचि का भी था। मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति देखी जाती है कि वह सरलता की ओर अधिक आकृष्ट होता है। जिस ओर उसे कष्ट और असुविधा की कम आशंका रहती है उसी ओर वह चलता है। इस दृष्टि से भी जब विचार किया गया तब यही निश्चित हुआ कि अँगरेज तथा उस समय के पढ़े-लिखे हिंदू-मुसलमान सभी खड़ी बोली को स्वीकार कर सकते हैं। उसी में सबको सरलता रहेगी और वही शीघ्रता से व्यापक बन सकेगी। सारांश यह कि खड़ी बोली को स्थान देने के कई कारण प्रस्तुत थे।

किसी भी साहित्य के आरंभिक काल में एक अवस्था ऐसी रहती है कि साधारण विषय को ही लेकर चलना पड़ता है। उस समय न तो भाषा में भाव-प्रकाशन की बलिष्ठ शक्ति रहती है और न लेखकों में ही व्यंजना-शक्ति का सम्यक् प्रादुर्भाव हुआ रहता। अतः यह स्वाभाविक है कि गद्य-साहित्य का समारंभ कथा-कहानी से हो। उस समय साहित्योन्नति के समारंभ का कारण केवल मनोविनोद ही होता है। वह समय उच्च और महत् विचारों के गवेषणा-पूर्ण चिंतन का नहीं होता और उस समय तथ्यातथ्य-विवेचन असंभव होता है। उस काल में तो यही विचार करना रहता है कि किसी प्रकार लोग पठन- पाठन के अभ्यासी हों। यही अवस्था हमारे गद्य के इस विकासकाल में थी।

यहीं हमें मुंशी सदासुखलाल ( सुखसागर ) और इंशाअल्लाखाँ दिखाई पड़ते हैं। एक कथा का रूप लेकर चले और दूसरे ने कहानी लिखी। चलती भाषा में इस समय इन दो लेखकों की कृपा से दो वर्गों को पढ़ने का कुछ उपादान प्राप्त हुआ। धर्म-समाज को धर्म-संबंधी विचार मिले और जनसाधारण को मनोविनोद के लिये एक किस्सा। जैसे दोनों के विषय हैं वैसी ही उनकी भाषा भी है। एक में भाषा शांत संचरण करती हुई मिलती है तो दूसरे में उछलकूद का बोलबाला है। मुंशीजी की भाषा में संस्कृत के सुंदर तत्सम शब्दों के साथ पुराना पंडिताऊपन है तो खाँ साहब में अरबी-फ़ारसी के साधारण शब्द-समुदाय के साथ-साथ वाक्य-रचना का ढंग भी मुसलमानी दिखाई देता है। उदाहरण देखिए:—

"जो सत्य बात होय उसे कहा चाहिए, को बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य इसका जो सत्तोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कहके लोगों को बहकाइए और फुसलाइए और असत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए, और सुरापान कीजिए, और धन-द्रव्य इकठौरा कीजिए और मन को कि तमोवृत्ति से भर रहा है उसे निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है परंतु उसे ज्ञान तो नहीं है।"

—हिंदी-भाषा-सार, पृ० ५

"सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस अपने बनानेवाले के साम्हने जिसने हम सबको बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया जिसका भेद किसी ने न पाया। आतियाँ, जातियाँ* जो साँसें हैं, उसके बिन ध्यान सब फाँसें हैं। यह कल का पुतला जो अपने उस खिलाड़ी की सुध रक्खे तो खटाई में क्यों पड़े और कड़वा कसैला क्यों हो?" —रानी केतकी की कहानी

'बात होय', 'को' ('कोई' के लिये), 'हेतु', 'तात्पर्य इसका......... है' इत्यादि पद मुंशीजी में पंडिताऊपन के प्रमाण हैं। आजकल भी कथा-वाचकों में और साहित्य का ज्ञान न रखनेवाले संस्कृत के कोरे पंडितों में इस प्रकार के कथन की परिपाटी पाई जाती है। इसके अतिरिक्त इनमें 'आवता', 'जावता' इत्यादि पंडिताऊपन का प्रयोग भी अधिक मिलता है। इन संस्कार-जनित दोषों को छोड़कर इनकी रचना में हमें भविष्य का स्वरूप स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है। 'तात्पर्य', 'सतोवृत्ति', 'प्राप्त', 'स्वरूप' इत्यादि संस्कृत के तत्सम शब्दों के उचित प्रयोग भाषा के परिमार्जित होने की आशा दिखाते हैं। रचना के साधारण स्वरूप को देखने से एक प्रकार की स्थिरता और गंभीरता की झलक दिखाई पड़ती है। इसकी आशा स्पष्ट हो जाती है कि एक दिन आ सकता है जब इस भाषा में मार्मिक विषयों की विवेचना सरलता से होगी।

उद्‌भावना-शक्ति के विचार से जब हम खाँ साहब की कृति को देखते हैं तब निर्विवाद मान लेना पड़ता है कि उनका विषय एक

* आने-जानेवाली। पंजाबी बोलचाल में अब तक ऐसे प्रयोग आते हैं। सौ बरस पहले की कविता में भी इसके उदाहरण मिलते हैं। उ०—वह सूरते इलाही किस देस बस्तियाँ हैं। जिनको कि देखने कूँ आँखें तरस्तियाँ हैं। —हिंदी-भाषा-सार।

नवीन आयोजन था। उनकी कथा का आधार नूतन एवं सर्वथा काल्पनिक था। मुंशीजी का कार्य इस विचार से सरल था। खाँ साहब को अपनी इस नवीनता में बड़ी सफलता मिली, क्योंकि कथा का प्रवाह संगठित और क्रम-बद्ध है, भाषा चमत्कारपूर्ण और आकर्षक है। चलतापन उसकी अपनी विशेषता है। यह सब होते हुए भी मानना पड़ेगा कि इस प्रकार की भाषा गूढ़ विषयों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी नहीं हो सकती। इसमें इतनी चटक-मटक है कि पढ़ते-पढ़ते एक मीठी हँसी आ ही जाती है। यही शैली क्रमशः विकसित होकर पंडित पद्मसिंहजी शर्मा की भाव-व्यंजना के रूप में दिखाई देती है। इस भाषा-शैली में धींगा-धींगी तो सफलता के साथ हो सकती है, किंतु गूढ़ गवेषणा के क्षेत्र में वह सर्वथा अनुपयुक्त दिखाई पड़ेगी। इसके अतिरिक्त खाँ साहब में तुक लगाते चलने की धुन भी विलक्षण थी। इसी का और अधिक गाढ़ा रंग लल्लू-जी लाल की रचना में मिलता है। अभी तक साहित्य केवल पद्यमय था। अतः सभी के कान श्रुति-मधुर तुकांतों की ओर आकृष्ट होते थे। "हम सबको बनाया, कर दिखाया, किसी ने न पाया" इत्यादि अवतरण में यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

कृदंत और विशेषण के प्रयोग में वचन का विचार रखना प्राचीन परिपाटी या परंपरा-प्राप्त रूढ़ि थी जो अपभ्रंश काल में तो प्रचलित थी, परंतु खाँ साहब के पूर्व ही लुप्त हो चुकी थी और उस समय के अन्य किसी लेखक में फिर नहीं मिली। अकस्मात् इनकी रचना में वह रूप फिर दिखाई पड़ा। ऊपर दिए हुए अवतरण के 'आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं' में यह बात स्पष्ट है। वास्तव में 'आती जाती' लिखा जाना चाहिए था। इनकी रचना में मुहावरों का सुंदर उपयोग और निर्वाह पाया जाता है। यह भाषा-शैली मुसलमानों के उपयोग में सैकड़ों वर्ष से आ रही थी, अतः परिमार्जित हो चुकी थी। खाँ साहब के लिए इन मुहावरों का सुंदर प्रयोग करना कोई बड़ी बात न थी। इसके अतिरिक्त इनकी वाक्य-योजना में भी फारसी का ढंग है। 'सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ अपने बनानेवाले के सामने' में रूप ही उलटा है। इसी को पंडित सदल मिश्र ने लिखा है—'सकल सिद्धिदायक वो देवतन में नायक गणपति को प्रणाम करता हूँ।'

हिंदी की अपनी प्रकृति के अनुसार साधारणतः क्रिया का वाक्य के अंत में आना समीचीन है।

सारांश यह कि इंशाअल्लाखाँ की भाषा-शैली उर्दू-ढंग की है और उस समय के सभी लेखकों में "सबसे चटकीली-मटकीली, मुहाविरेदार और चलती" है, परंतु यह मान लेना भ्रमात्मक है कि खाँ साहब की शैली उच्च गद्य के लिए उपयुक्त है। इस ओर स्वतः लेखक की प्रवृत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती। वह लिखते समय हाव-भाव, कूद-फाँद और लपक-झपक दिखाना चाहता है। ऐसी अवस्था में गंभीरता का निर्वाह कठिन हो जाता है। फड़कती हुई भाषा का बड़ा सुंदर रूप लेखक ने सामने रखा है। यही कारण है कि तात्विक विषयों का विवेचन इस भाषा में नहीं किया जा सकता। हाँ, यह बात अवश्य है कि खाँ साहब ने अपने विषय के अनुकूल भाषा का उपयोग किया है। उसमें लेखक की व्यक्तिगत विशेषता दिखाई पड़ती है और व्यावहारिक शैली का वह बहुत ही आकर्षक रूप है।

जिस समय इधर मुंशी सदासुखलाल और सैयद इंशाअल्लाखाँ अपनी कृतियों को लेकर साहित्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए उस समय उधर कलकत्ते में गिलक्रिस्ट साहब भी गद्य के निर्माण में सहायक हुए। फोर्ट विलियम् कालेज के संरक्षण में लल्लूजीलाल ने 'प्रेम-सागर' और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। आधाररूप में लल्लूजीलाल के लिए चतुर्भुजदास का भागवत और सदल मिश्र के लिए संस्कृत का नासिकेतोपाख्यान प्राप्त था। दोनों को वस्तुनिर्माण की आवश्यकता नहीं पड़ी। पुराने ढाँचे पर प्रासाद खड़ा करना अधिक कुशलता का परिचायक नहीं है। इस दृष्टि से इंशाअल्लाखाँ का कार्य सबसे दुरूह था। खाँ साहब और मुंशीजी ने स्वांतःसुखाय रचना की और लल्लूजीलाल और मिश्रजी ने केवल दूसरों के उत्साह से ग्रंथ निर्माण किए।

लल्लूजीलाल की भाषा चतुर्भुजदास की भाषा का प्रतिरूप है। उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता ही नहीं दिखाई पड़ती। उस समय तक गद्य का जो विकास हो चुका था उसकी झलक इनकी शैली में नहीं दिखाई पड़ती। भाषा में नियंत्रण और व्यवस्था का पूर्ण अभाव है। शब्द-चयन के विचार से वह धनी ज्ञात होती है। तत्सम शब्दों का प्रयोग उसमें अधिक हुआ है, परंतु इन शब्दों के विकृत रूप की

कमी नहीं है। स्थान-स्थान पर विचित्र देशज शब्द मिलते हैं। अरबी-फारसी की शब्दावली का व्यवहार नहीं हुआ है, अपवाद-स्वरूप भले ही कहीं कोई विदेशी शब्द आ गया हो। इनकी भाषा सानुप्रास और तुकांतपूर्ण है। उदाहरण देखिए—

"ऐसे वे दोनों प्रिय प्यारी बतराय पुनी प्रीति बढ़ाय अनेक प्रकार से काम कलोल करने लगे और बिरही की पीर हरते। आगे पान की मिठाई, मोती माल की शीतलाई और दीपज्योति की मंदताई देख एक बार तो सब द्वार मूँद ऊषा बहुत घबराय वर में आय अति प्यार कर प्रिय को कंठ लगाय लेटी।"
—प्रेमसागर ( ऊषा-अनिरुद्ध-संवाद )

इस प्रकार की भाषा कथावार्ताओं में ही प्रयुक्त हो सकती है। उस समय भाषा का जो रूप प्रयोजनीय था उसका निर्माण नहीं हुआ। लल्लूलाल की भाषा अधिकांश शिथिल है। स्थान-स्थान पर ऐसे वाक्यांश आए हैं जिनका संबंध आगे पीछे के वाक्यों से बिलकुल नहीं मिलता। इन सब दोषों के रहते हुए भी इनकी भाषा बड़ी मधुर है—क्योंकि उसमें सर्वत्र ब्रजभाषा का प्रभाव ही अपनाया गया है। स्थान-स्थान पर वर्णनात्मक चित्र बड़े सुंदर हैं। यदि लल्लूजीलाल भी सदल मिश्र की भाँति भाषा को स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करने देते तो संभव है उनकी प्राचीनता इतनी न खटकती और कुछ दोषों का परिमार्जन भी अवश्य हो जाता। अरबी-फारसी के लटकों से बचने में इनकी भाषा मुहाविरेदार और आकर्षक नहीं हो सकी और उसमें अधिक तोड़-मरोड़ करनी पड़ी।

लल्लूजीलाल के साथी सदल मिश्र थे। उनकी भाषा व्यावहारिक है। उसमें न तो ब्रजभाषा का अनुकरण है और न तुकांत का लटका। उन्होंने अरबी-फारसी-पन को एकदम पृथक् नहीं किया। परिणाम इसका अच्छा ही हुआ है क्योंकि इससे भाषा में मुहाविरों का सुंदर उपयोग हो सका है और कुछ आकर्षण तथा रोचकता भी आ गई है। वाक्यों के संगठन में खाँ साहबवाली उलट-फेर की प्रवृत्ति इनमें भी मिलती है। 'जलविहार हैं करते', 'उत्तम गति को हैं पहुँचते', 'अबही हुआ है क्या' इत्यादि में वही धुन दिखाई देती है। इनमें स्थान-स्थान पर वाक्य असंपूर्ण अवस्था में ही छोड़ दिए गए हैं। अंतिम क्रिया का पता नहीं है। जैसे—'जहाँ देखो तहाँ देवकन्या सब गातीं।' साधारणतः देखने से भाषा असंयत ज्ञात होती है। 'और'

के लिए 'औ' तथा 'वो' दोनों रूप मिलते हैं। बहुवचन के रूप भी दो प्रकार के मिलते हैं—'काजन', 'हाथन', 'सहस्रन' और 'कोटिन्ह', 'मोतिन्ह', 'फूलन्ह', 'बहुतेरन्ह' इत्यादि। मुंशी सदासुखलाल की भाँति इनमें भी पंडिताऊपन मिलता है। 'जाननिहारा' 'आवता', 'करनहारा' 'रहे' ('थे' के लिए), 'जैसी आशा करिए', 'आवने' इत्यादि इसी के परिचायक हैं। कहीं-कहीं पर एक ही शब्द दो रूपों में लिखा गया है। उदाहरणार्थ 'कदही' भी मिलता है और 'कधी भी। 'नहीं' के स्थान में सदैव 'न' लिखा गया है। मिश्रजी कलकत्ते में तो रहते ही थे; यही कारण है कि उनकी भाषा में बँगला का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है। 'गाछ', 'काँदना' बँगला भाषा के शब्द हैं। 'सो मैं नहीं सकता हूँ' में, बँगलापन स्पष्ट है। उन्होंने 'जहाँ कि' को सर्वत्र 'कि जहाँ' लिखा है।

यों तो मिश्रजी की भाषा अव्यवस्थित और अनियंत्रित है और उसमें एकरूपता का अभाव है; परंतु भाव-प्रकाशन की पद्धति सुंदर और आकर्षक है। तत्सम शब्दों का अच्छा प्रयोग होते हुए भी उसमें तद्भव और प्रांतिक शब्दों की भरमार है। सभी स्थलों पर भाषा एक सी नहीं है। कहीं-कहीं तो उसका सुचारु और संयत रूप दिखाई पड़ता है, पर कहीं-कहीं अशक्त और भद्दा। ऐसी अवस्था में उनकी भाषा को 'गठीली' और 'परिमार्जित' कहना युक्ति-संगत नहीं है। भाषा में एकस्वरता का विचार अधिक रखना चाहिए। उनकी भाषा को इस विचार से देखने पर निराश होना पड़ेगा; परंतु साधारण दृष्टि से वह मुहाविरेदार और व्यावहारिक थी इसमें कोई संदेह नहीं। कहीं-कहीं तो इनकी रचना आशा से अधिक संस्कृत दिखाई पड़ती है; जैसे—

"उस वन में व्याघ्र और सिंह के भय से वह अकेली कमल के समान चंचल नेत्रवाली व्याकुल हो ऊँचे स्वर से रो रो कर कहने लगी कि अरे विधना ! तैंने यह क्या किया ? और बिछुरी हुई हरनी के समान चारों ओर देखने लगी। उसी समय तक ऋषि जो सत्यधर्म में रत थे ईंधन के लिये वहाँ जा निकले।" —नासिकेतोपाख्यान

ऐसे विशुद्ध स्थल कम हैं। यह भाषा भारतेंदु हरिश्चंद्र के समीप पहुँचती दिखाई पड़ती है। इसमें साहित्य की अच्छी झलक है। भाव-व्यंजना में भी कोई बाधा नहीं दिखाई पड़ती।

ऐसे समय में—जब कि मुंशी सदासुखलाल, इंशाअल्लाखाँ, और दूसरी ओर लल्लूजीलाल और सदल मिश्र गद्य का निर्माण कर रहे थे—इसाइयों का दल अपने धर्म-प्रचार में संलग्न था। उन लोगों ने देखा कि साधारण जनता—जिसके बीच उन्हें अपने धर्म का प्रचार करना अभीष्ट था—अधिक पढ़ी-लिखी नहीं थी। उसकी बोलचाल की भाषा खड़ी बोली थी। अतएव इन ईसाई प्रचारकों ने अरबी-फारसी मिली हुई भाषा का त्यागन कर विशुद्ध खड़ी बोली को अपनाया। उन्होंने, उर्दूपन को दूर कर, सदासुखलाल और लल्लूजीलाल की ही भाषा को आदर्श माना। इसका भी कारण था। उन्हें विश्वास था कि मुसलमानों में वे अपने मत का प्रचार नहीं कर सकते। मुसलमान स्वयं इतने जागरूक और धर्म में दृढ़ होते हैं कि अपने धर्म के आगे वे दूसरों की नहीं सुनते। इधर सामाजिक भेद-भाव एवं दरिद्रता के कारण हिन्दुओं के कुछ वर्गों की अवस्था दुर्बल थी अतएव वे विभिन्न प्रकार के प्रलोभनों में पड़ कर धर्म-परिवर्तन की ओर प्रवृत्त हो जाते थे। उनकी इन अवस्थाओं का विचार कर इन ईसाई प्रचारकों ने खड़ी बोली को ही ग्रहण किया। उन्हें मालूम था कि साधारण हिन्दू जनता—जिसमें उन्हें अपने धर्म का प्रचार करना था—इसी भाषा का व्यवहार करती है।

संवत् १८७५ में जब ईसाईयों की धर्म-पुस्तक का अनुवाद हिन्दी भाषा में हुआ तब देखा गया कि उसमें विशुद्ध हिंदी भाषा का ही उपयोग हुआ है। इस समय ऐसी अनेक रचनाएँ प्रस्तुत हुईं जिनमें साधारणतः ग्रामीण शब्दों को तो स्थान मिला परंतु अरबी-फारसी के शब्द प्रयुक्त नहीं हुए। 'तक' के स्थान पर 'लौं' अथवा 'लग', 'वक्त' के स्थान पर 'जून', मुफ्त' के लिए 'सेंत', 'कमरबंद' के लिए 'पटुका' 'तरह' के स्थान पर 'रीति' का ही व्यवहार किया गया। केवल शब्दों का ही विचार नहीं किया गया वरन् भावभंगी और वाक्य-योजना सभी हिंदी—विशुद्ध हिंदी—की थी। तत्कालीन ईसाई-रचनाओं में भाषा का रूप देखकर यह आशा होती थी कि भविष्य सुंदर है।

इन ईसाइयों ने स्थान-स्थान पर विद्यालय स्थापित किए। उनकी स्थापित पाठशालाओं के लिए पाठ्य पुस्तकें भी सरल परंतु शुद्ध हिंदी में लिखी गईं। कलकत्ते, मिरजापूर और आगरे में ऐसी संस्थाएँ निश्चित रूप से स्थापित की गईं, जिनका उद्देश्य ही पठन-पाठन के

योग्य पुस्तकों का निर्माण करना था। इन संस्थाओं ने उस समय हिंदी का बड़ा उपकार किया। राजा शिवप्रसाद प्रभृति हिंदी के सहायकों के लिए अनुकूल वातावरण इन्हीं की चेष्टा से उपस्थित हुआ। इन ईसाइयों ने भूगोल, इतिहास, विज्ञान और रसायनशास्त्र इत्यादि विषयों की पुस्तकें प्रकाशित कीं। कुछ दिनों तक यही क्रम चलता रहा। अनेक विषयों में प्रयुक्त होने के कारण भाषा में व्यञ्जनाशक्ति कुछ वृद्धि पाने लगी। स्वरूप में अस्थिरता रहने पर भी नवीन भावों एवं विचारों के व्यक्त करने में अब यह समर्थ हो चली।

ईसाईयों की प्रेरणा से लिखी गई ये पाठ्य-पुस्तकें और वाद-विवाद से आपूर्ण धर्म-प्रचार सम्बन्धी जो रचनाएँ इस काल में प्रकाशित हुईं उनके लेखक प्रायः भारतीय पण्डित ही होते थे। सरकारी प्रभाव से सर्वथा परे रहकर ये लेखक व्यवहार की शुद्ध प्रतिनिधि भाषा का ही व्यवहार करने थे। यही कारण है कि ईसा-इयों की पुस्तकों में पण्डिताऊपन का आधिक्य तो सर्वत्र है परन्तु भाषा फारसीपन से सर्वत्र बची रही। विभक्ति का अधिक प्रयोग 'ऐकार' और 'औकार' इत्यादि की अधिकता सभी प्रकार की रचनाओं में प्राप्त होती है; 'पीछै' 'भीतै' 'उन्हैं' 'इन्हैं' 'तौ' 'क्यौंकि' 'कठिनताऔं' 'करकै', वस्तुऔं', 'तेटपै', 'राजाऔं', 'इस्से' 'उस्से' के साथ-साथ 'वुह' (वह), 'विन्होंने' (उन्होंने) 'तें' (से) 'करके' इत्यादि तो मिलता ही है; कहीं-कहीं सम्पूर्ण वाक्यांश पण्डिताऊ ढंग पर लिखे गए हैं—'तिस पीछै सर्व्वसाधारण मंगलीक विषय में एक मता हुआ।', 'समुद्र को पायों पायों उतर गया।' 'जो जाति वहाँ के लोगों को शिक्षा करती रहती हैं।' 'श' के स्थान 'स' और 'व' के स्थान 'ब' का प्रयोग अधिकाधिक मिलता है'।

"जब यह नाव बन चुकी तौ ईश्वर ने उसे आज्ञा की कि तुम अपने कुटुंब को अर्थात् आठ जने तुम्हारी स्त्री तुम्हारे तीनौ पुत्र औ उनकी स्त्रियां और एक एक जोड़ा सब जीवौं का इसमें रखकै बचाओ। जब ये सब इनमें बैठ चुके, तब बड़े बड़े सोत पृथ्वी से आगे, औ आकाश से मेह मूसलाधार चालीस दिन और रात लगातार बरसता रहा, जबतक सबसे बड़े पहाड़ जल में न डूबे औ सब जीव जन्तु न मरे। तिस पीछे ईश्वर

प्रसन्न हुए, मेंह थंभा, औ जल अपने ठिकाने ·सिर लगा औ नूह ने अपने कुटुंब समेत उसमें से निकल पृथ्वी पर आ ईश्वर के निमित्त बलिदान दिया।"

(पण्डित रतनलाल द्वारा लिखित और आगरा स्कूल बुक सोसाइटी द्वारा दिसम्बर सन् ईसवी १८३६ में प्रकाशित 'कथा—सार' पृ० ३)

उक्त दोषों से युक्त होने पर भी इस उद्धरण की भाषा में एक अपनापन है। सम्पूर्ण पुस्तक में इसी इत्तिवृत्तात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। पण्डिताऊपन के कारण भाषा के प्रवाह एवं निर्मल भावाभिव्यंजन में किसी प्रकार का व्याघात नहीं पहुँचा। इन ईसाइयों की रचनाओं में एक स्वरता सर्वत्र दिखाई पड़ती है। फारसी-अरबी के शब्दों का ही विरोध नहीं वरन् किसी रूप में उनका प्रभाव नहीं आने पाया। यही भाषा तर्क-वितर्क, खण्डन-मण्डन तथा तर्कसंगत वाद-विवाद के क्षेत्र में आकर और अधिक परिष्कृत और बलिष्ट हो गई। पण्डिताऊपन तो वहाँ भी विद्यमान रहता था परन्तु वाक्य-विन्यास साधारणतः जटिल हो जाता था और उस का विस्तार मात्रा से कहीं अधिक बढ़ जाता था। विरामादि चिन्हों का प्रयोग नहीं रह जाता था। 'और' तथा 'औ' की सहायता से वाक्यों का अन्तहीन प्रवाह बहता था। ऐसे स्थलों पर व्यावहारिकता के स्थान पर प्रायः संस्कृत की तत्समता अधिक बढ़ जाती थी। स्थान-स्थान पर पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग भी होते चलते थे। गवेषणात्मक कथन-प्रणाली में ये विशेषताएँ प्रायः उत्पन्न ही हो जाती हैं। जैसेः—

"फिर वेदांत लोग अनित्य और मिथ्या इन दो पदार्थों का संकर करके और मिला के कहते हैं कि ज्ञान के उपजने पर अज्ञान और दुःख जाते रहते हैं इसलिए अज्ञान और दुःख असत् पदार्थ हैं पर यह बड़ी भूल है हाँ उसको अनित्य कहो पर मिथ्या नहीं मिथ्या बुह है जो है ही नहीं और अनित्य बुह है जो है पर नष्ट होगा देखो जब कोई विद्यार्थी किसी विद्या के पढ़ने को आता है तब उसको उस विद्या के विषय में अज्ञान रहता है और जब उसे पढ़ाते हो तब उसका अज्ञान नष्ट होता है तो क्या इस्से यह सिद्ध होता है कि उसको पढ़ने के पहिले भी अज्ञान न था यदि ऐसा ही था तो काहे को उसको पढ़ाया सो इसी प्रकार से ब्रह्म को ज्ञान प्राप्त भये पर वह ज्ञानी और सुखी बन जाये तो पर उसके पहिले तो वह अज्ञानी और दुःखी ठहरा तब बुह नित्य बुद्ध और नित्यानन्द कैसा ठहरा फिर जो कुछ काल लौं अज्ञानी और दुःखी रह के फिर ज्ञानी और सुखी बन जाता है सो निर्विकार

कैसा ठहरा" (पादरी मेथर साहिब द्वारा मिरजापूर में सन् १८५३ ईस्वी में प्रकाशित "वेदान्त मत विचार और खृष्ट मत का सार" पृ० १७)

'करके', 'के' (कर), 'बुह' (वह), 'किसी विद्या के पढ़ने को आता है', 'लो' (तक), 'काहेकी' (क्यों), 'भये' (होने), 'ठहरा' (हुआ), 'इस्से' (इससे), 'सो इसी प्रकार से ब्रह्म को ज्ञान प्राप्त भये पर' इत्यादि प्रयोगों में पण्डिताऊ ढंग वर्तमान है परन्तु उद्धृत अवतरण की भाषा से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि इस समय तक इसमें इतनी शक्ति आ गई थी कि वाद-विवाद चल सके। इसमें कुछ तर्क-संगत बल दिखलाई पड़ता है। यह भाषा लचर नहीं है। भावों के विस्तार के साथ-साथ इसमें भाषा का उतार-चढ़ाव दिखाई पड़ता है। पूरी पुस्तक इसी शैली में लिखी गई है। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि इस समय तक भाषा में एकस्वरता का विकास हो चला था। सभी विषयों की छान-बीन इसमें होने लगी थी। अतएव यह कथन अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि विविध विषयों में निरंतर प्रयुक्त होने के कारण भाषा का स्वरूप संगठित हो चला था और उसमें विभिन्न प्रकार के विचार एवं भाव अभिव्यंजित करने की क्षमता बढ़ रही थी। अब वह केवल कथा-कहानी की परिमिति में ही आबद्ध न रह कर तथ्यातथ्य-निरूपण, वाद-विवाद और आलोचना में भी प्रयुक्त हो चली।

ईसाइयों का प्रचार्य-कार्य चलता रहा। खंडन-मंडन की पुस्तकें विशुद्ध हिंदी भाषा में छपती रहीं। पठन-पाठन का कार्य आरंभ हो चुका था। पाठशालाएँ स्थापित हो चुकी थीं। इन संस्थाओं में पढ़ाने के लिए पुस्तकें भी लिखी जा रही थीं। इस प्रकार व्यापक रूप में न सही, पर संतोषप्रद रूप में भाषा-प्रचार का प्रयास किया जा रहा था।

उर्दू

इसी समय सरकार ने भी मदरसे स्थापित करने का आयोजन किया। नगरों के अतिरिक्त गाँवों में भी पढ़ाने-लिखाने की व्यवस्था होने लगी। इन सरकारी मदरसों में अँगरेजी के साथ-साथ हिंदी-उर्दू को भी स्थान प्राप्त हुआ। यह आरंभ में ही लिखा जा चुका है कि जिस समय मुसलमान लेखकों ने कुछ लिखना प्रारंभ किया उस समय ब्रजभाषा और अवधी में ही उन लोगों ने अपनें-अपने काव्यों की रचना की। इसके बाद कुछ लोगों ने खड़ी

राजा शिवप्रसाद

बोली में रचनाएँ प्रारंभ कीं। पहले किसी में भी यह धारणा न थी कि इसी हिंदी के ढाँचे में अरबी-फारसी की शब्दावली का सम्मिश्रण कर एक नवीन कामचलाऊ भाषा का निर्माण कर लें। परंतु आगे चलकर अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग खड़ी बोली में क्रमशः वृद्धि पाने लगा। शब्दों के अतिरिक्त मुहावरे, भावव्यंजना तथा वाक्य-रचना का ढंग भी धीरे-धीरे परिवर्तित हो गया। अब तो यह अवस्था दिखाई देती है कि फारसी के व्याकरण के अनुसार शब्दों का नियंत्रण भी आरंभ हो गया है ( काग़ज़ात, मकानात और शाहेजहाँ )। खड़ी बोली के इसी परिवर्तित रूप को मुसलमानों ने उर्दू के नाम से प्रतिष्ठित किया। ये लोग कहने लगे हैं कि इस भाषा-विशेष का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है।

उर्दू का व्यापकता

पहले अदालतों में विशुद्ध फारसी भाषा का प्रयोग होता था। पश्चात् 'सरकार की कृपा से खड़ी बोली का अरबी-फारसी रूप लिखने-पढ़ने की अदालती भाषा होकर सबके सामने आया'। वास्तव में खड़ी बोली की उन्नति को इस परिवर्तन से बड़ा व्याघात पहुँचा। अदालत के कार्यकर्त्ताओं के लिए इस नवाविष्कृत गढंत भाषा का अध्ययन अनिवार्य हो गया, क्योंकि इसके बिना उन्हें अपना पेट चलाना दुष्कर हो गया। इस विवशता से उर्दू कही जानेवाली खिचड़ी भाषा की व्यापकता बढ़ने लगी। अब एक विचारणीय प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि सरकारी मदरसों में नियुक्त पाठ्यग्रंथों का निर्माण किस भाषा में हो—हिंदी की खड़ी बोली में हो अथवा अरबी-फारसी-मय नवीन रूपधारिणी उर्दू नाम से पुकारी जानेवाली इस खिचड़ी भाषा में।

काशी के राजा शिवप्रसाद उस समय शिक्षा-विभाग में निरीक्षक के पद पर नियुक्त थे। वे हिंदी के उन हितैषियों में से थे 'जो लाख विघ्न-बाधाओं तथा अड़चनों के उपस्थित होने पर भी भाषा के उद्धार के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। इस हिंदी-उर्दू के झगड़े में राजा

१ राजा शिवप्रसाद

साहब ने बड़ा योग दिया। उनकी स्थिति बड़ी विचारणीय थी। उन्होंने देखा कि शिक्षा-विभाग में मुसलमानों का दल अधिक शक्तिशाली है। अतः उन्होंने किसी एक पक्ष का स्वतंत्र समर्थन न कर मध्यवर्ती मार्ग का

अवलंबन किया। पढ़ने के लिए पुस्तकों का अभाव देखकर राजा साहब ने स्वयं तो लिखना आरंभ किया ही, साथ ही अपने मित्रों को भी प्रोत्साहन देकर इस कार्य में संयोजित किया। "राजा साहब जी जान से इस उद्योग में थे कि लिपि देव-नागरी हो और भाषा ऐसी मिलीजुली रोजमर्रा की बोलचाल की हो कि किसी दलवाले को एतराज न हो।"

इसी विचार से प्रेरित हो उन्होंने अपनी पहले की लिखी पुस्तकों में भाषा का मिला-जुला रूप रखा। लोगों का यह कहना कि 'राजा साहब की भाषा वर्तमान भाषा से बहुत मिलती है, केवल यह साधारण बोलचाल की ओर अधिक झुकती है और उसमें कठिन संस्कृत अथवा फारसी के शब्द नहीं हैं' उनकी संपूर्ण रचनाओं पर नहीं चरितार्थ होता। उनकी पहले की भाषा अवश्य मध्यवर्ती मार्ग की थी। इसके अनुसार उन्होंने स्थान-स्थान पर साधारण उर्दू, फारसी तथा अरबी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। साथ ही संस्कृत के चलते और साधारण प्रयोगों में आनेवाले तत्सम शब्दों को भी स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त 'पायै' 'लेवे' और 'कि' ऐसे पंडिताऊ रूप भी वे रख देते थे। देखिए—"सिवाय इसके मैं तो आप चाहता हूँ कि कोई मेरे मन की थाह लेवे और अच्छी तरह से जाँचे। मारे व्रत और उपवासों के मैंने अपना फूल सा शरीर काँटा बनाया, ब्राह्मणों को दान दक्षिणा देते देते सारा खजाना खाली कर डाला, कोई तीर्थ बाकी न रखा, कोई नदी तालाब नहाने से न छोड़ा, ऐसा कोई आदमी नहीं कि जिसकी निगाह में मैं पवित्र पुण्यात्मा न ठहरूँ।" कुछ दिन लिखने-पढ़ने के उपरांत राजा साहब के विचार बदलने लगे और अंत में आते-आते वे हमें उस समय के एक कट्टर उर्दू-भक्त के रूप में दिखाई पड़ते हैं। उस समय उनमें न तो वह मध्यम मार्ग का सिद्धांत ही दिखाई पड़ता है और न विचार ही। उस समय वे निरे उर्दूदाँ बने दिखाई पड़ते हैं। उस समय की उनकी भाव-प्रकाशन की विधि, शब्दावली और वाक्य-विन्यास आदि सभी उर्दू ढाँचे में ढले दिखाई पड़ते हैं। जैसे:—

"इसमें अरबी, फ़ारसी, संस्कृत और अब कहना चाहिए अँगरेजी के भी शब्द कंधे से कंधा भिड़ाकर यानी दोश-बदोश चमक दमक और रौनक़ पावैं, न इस बेतर्तीबी से कि जैसा अब गड़बड़ मच रहा है, बल्कि एक

राजा लक्ष्मण सिंह

सल्तनत के मानिंद कि जिसकी हदें कायम हो गई हों और जिसका इंतिज़ाम मुंतज़िम की अक़्लमंदी की गवाही देता है।"

क्या घोर परिवर्तन है! कितना उथल-पथल है!! एक शैली पूरब को जाती है तो दूसरी बेलगाम पश्चिम को भागी जा रही है। उपर्युक्त अवतरण में हिंदीपन का आभास ही नहीं मिलता। 'न इस बेतर्तीबी से कि' से तथा—अन्य स्थान में प्रयुक्त—'तरीका उसका यह रक्खा था', 'दिन दिन बढ़ावें प्रताप उसका' से वही दुर्गंध आती है जो पहले इंशाअल्लाखाँ की वाक्य-रचना में आती थी। इसके अतिरिक्त उर्दू लेखकों के अनुसार वे 'पूँजी हासिल करना चाहिए' ही लिखा करते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजा साहब भले ही 'सितारेहिंद' से 'सितार-ए-हिंद' बन गए हों परंतु 'पावैं' से पीछा नहीं छूटा।

राजा शिवप्रसाद की इस शैली का विरोध प्रत्यक्ष रूप से राजा लक्ष्मणसिंह ने किया। ये महाशय यह दिखाना चाहते थे कि बिना मुसलमानी व्यवस्था के भी खड़ी बोली का अस्तित्व स्वतंत्र रूप से रह सकता है। इनके विचार से 'हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी' थीं। इन दोनों का सम्मेलन किसी प्रकार नहीं हो सकता—यही उनकी पक्की धारणा थी। बिना उर्दू के दलदल में फँसे भी हिंदी का बहुत सुंदर गद्य लिखा जा सकता है, इस बात को उन्होंने स्वयं सिद्ध कर दिया है। उनके जो दो अनुवाद लिखे गए और छपे हैं उनकी भी 'भाषा सरल एवं ललित है और उसमें एक विशेषता यह भी है कि अनुवाद शुद्ध हिंदी में किया गया है। यथासाध्य कोई शब्द फारसी-अरबी का नहीं आने पाया है।' 'इस पुस्तक की बड़ी प्रशंसा हुई और भाषा के संबंध में मानो फिर से लोगों की आँखें खुलीं।'

इसके पूर्व लेखकों में भाषा का परिमार्जन नहीं हुआ था। वह आरंभ की अवस्था थी। उस समय न कोई शैली थी और न कोई विशेष उद्देश्य ही था। जो कुछ लिखा गया उसे काल की प्रगति एवं व्यक्ति-विशेष की रुचि समझनी चाहिए। उस समय तक भाषा का कोई रूप भी निश्चित नहीं हुआ था, न उसमें कोई स्थिरता ही आई थी। इसके सिवा सितार-ए-हिंद साहब अपनी दोरंगी दुनिया के साथ मैदान में हाजिर हुए। इनकी चाल दोरुखी रही। अतः इनकी इस दोरुखी चाल के कारण भाषा अव्यवस्थित ही रह गई।

उसका कौन सा रूप स्थिरता पूर्वक ग्राह्य माना जाय; इसका पता लगाना कठिन था।

भाषा के एक निश्चयात्मक रूप का सम्यक् प्रसार हम राजा लक्ष्मणसिंह की रचना में पाते हैं। कुछ शब्दों के रूप चाहे बेढंगे भले ही हों, पर भाषा उनकी एक ढर्रे पर चली है। "मैंने इस दूसरी बार के छापे में अपने जाने सब दोष दूर कर दिए हैं," तथा 'जिन्ने', 'सुन्ने' 'इस्से', 'उस्से', 'वहाँ जानो कि' 'जान्ना', 'मान्नी' इत्यादि उच्चारण संबंधी प्रांतिक रूप भी उनकी भाषा में पाए जाते हैं। 'मुझे' (मुझमें), 'यह तो' (इतना तो), 'तुझै' ( तुझको अथवा तुमको ), 'लिवाने' आदि शब्दों के प्राचीन रूप भी प्राप्त होते हैं। उन्होंने 'कहावत' के स्थान पर 'कहनावत' का प्रयोग किया है। 'अवश्य' सदैव 'आवश्यक' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। इतना सब होते हुए भी उनकी भाषा ने अपना एक स्थिर मार्ग पकड़ा।

जितना पुष्ट और व्यवस्थित गद्य हमें उनकी रचना में मिला उतना पूर्व के किसी भी लेखक की रचना में नहीं उपलब्ध हुआ था। गद्य के इतिहास में इतनी स्वाभाविक विशुद्धता का प्रयोग उस समय तक किसी ने नहीं किया था। इस दृष्टि से राजा लक्ष्मणसिंह का स्थान तत्कालीन गद्य-साहित्य में सर्वोच्च है। यदि राजा साहब विशुद्धता लाने के लिए बद्ध-परिकर होने में कुछ भी आगापीछा करते तो भाषा का आज कुछ और ही रूप रहता। जिस समय उन्हों ने यह उत्तरदायित्व अपने सिर पर लिया गद्य-साहित्य के विकास में वह समय परिवर्त्तन का था। उस समय रंच मात्र की असावधानी भी एक बड़ा अनर्थ कर सकती थी। इनकी रचना में हमें जो गद्य का निखरा रूप प्राप्त होता है वह एकांत उद्योग और कठिन तपस्या का प्रतिफल है। राजा साहब की भाषा का कुछ रूप उद्धृत किया जाता है:—

"याचक तो अपना अपना वांछित पाकर प्रसन्नता से चले जाते हैं परंतु जो राजा अपने अंतःकरण से प्रजा का निर्धार करता है नित्य वह चिंता ही में रहता है। पहले तो राज बढ़ाने की कामना चित्त को खेदित करती है फिर जो देश जीतकर वश किए उनकी प्रजा के प्रतिपालन का नियम दिन रात मन को विकल रखता है जैसे बड़ा छत्र यद्यपि घाम से रक्षा करता है परंतु बोझ भी देता है।"

भारतेंदु हरिश्चन्द्र

इस समय तक हम देख चुके हैं कि गद्य में दो प्रधान शैलियाँ उपस्थित थीं एक तो अरबी-फारसी के शब्दों से भरी-पुरी खिचड़ी थी जिसके प्रवर्त्तक राजा शिवप्रसादजी थे और दूसरी विशुद्ध हिंदी की शैली थी जिसके समर्थक राजा लक्ष्मणसिंह और प्रवर्तक ईसाई गण थे। अभी तक यह निश्चय नहीं हो सका था कि किस शैली का अनुकरण कर उसका परिष्कार करना चाहिए। स्थिति विचारणीय थी। इस उलझन को सुलझाने का भार भारतेंदु हरिश्चंद्र पर पड़ा। बाबू साहब हिंदू-मुसलमानों की एकता के इतने एकांत भक्त न थे। वे नहीं चाहते थे कि एकता की सीमा यहाँ तक बढ़ा दी जाय कि हम अपनी मातृ-भाषा का अस्तित्व ही मिटा दें। वे राजा शिवप्रसाद जी की उर्दूमय शैली को देखकर बड़े दुःखित होते थे। उनका विचार था कि एक ऐसी परिमार्जित और व्यवस्थित भाषा का निर्माण हो जो पठित समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त कर आदर्श का स्थान ग्रहण कर सके। इस विचार से प्रेरित होकर बाबू साहब इस कार्य के संपादन में आगे बढ़े और घोर उद्योग के पश्चात् अंततोगत्वा उन्होंने भाषा को एक व्यवस्थित रूप दे ही डाला। भारतेंदु के इस अथक उद्योग के पुरस्कार-स्वरूप यदि उन्हें गद्य-भाषाशैली का जन्मदाता कहें तो अनुचित न होगा।

उन्होंने समझ लिया कि एक ऐसे मार्ग का अवलंबन करना समीचीन होगा जो सब प्रकार के लेखकों को अनुकूल हो सके। उन्हें दिखाई पड़ा कि न तो उर्दू के तत्सम शब्दों से भरी तथा उर्दू वाक्य-रचना-प्रणाली से पूर्ण शैली ही सर्वमान्य हो सकती है और न संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी-पुरी प्रणाली ही सर्वत्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकती है। अतः इन दोनों प्रणालियों का मध्य स्वरूप ही इस कार्य के लिए सर्वथा उपयुक्त होगा। इसमें किसी को असंतोष का कारण न मिलेगा और इसलिए वह सर्वमान्य हो जायगी। अतः उन्होंने इन दोनों शैलियों का सम्यक् संस्कार कर एक अभूत रचना-प्रणाली का रूप स्थिर किया। यह उसका बहुत ही परिमार्जित और निखरा रूप था। "भाषा का यह निखरा हुआ शिष्ट सामान्य रूप भारतेंदु की कला के साथ ही प्रकट हुआ"। इसी मध्यम मार्ग का सिद्धांत उन्होंने अपनी सभी रचनाओं में रखा है। हम यदि केवल इस गद्य-शैली के नवीन

और स्थिर स्वरूप का ही विचार करें तो "वर्तमान हिंदी की इनके कारण इतनी उन्नति हुई कि इनको इसका जन्मदाता कहने में भी कोई अत्युक्ति न होगी"। इस मध्यम मार्ग के अवलंबन का फल यह हुआ कि भारतेंदु की साधारणतः सभी रचनाओं में अरबी-फारसी के शब्द प्रयुक्त हुए हैं, पर बहुत चलते। ऐसे शब्द व्यवहार के क्षेत्र में जहाँ कुछ विकृत रूप में पाए गए वहाँ उसी रूप में रखे गए हैं, राजा शिवप्रसाद की भाँति तत्सम रूप में नहीं। 'कफन', 'कलेजा', 'जाफत', 'खजाना', 'जवाब', इत्यादि के नीचे नुकते का न लगाना ही इस कथन का प्रमाण है। 'जंगल', 'मुर्दा', 'मालूम', 'हाल', ऐसे चलते शब्दों का उन्होंने बराबर उपयोग किया है। दूसरी ओर संस्कृत शब्दों के तद्भव रूपों का भी बड़ी सुंदरता से व्यवहार किया गया है। इसमें उन्होंने बोलचाल के व्यावहारिक रूपों का विशेष ध्यान रखा है। उनके प्रयुक्त शब्द इतने चलते हैं कि आज भी हम लोग अपनी नित्य की भाषा में उनका प्रयोग उन्हीं रूपों में करते हैं। वे न तो भद्दे ही ज्ञात होते हैं और न उनके प्रयोग में कोई अड़चन ही उपस्थित होती है। 'भलेमानस', 'हिया', 'गुनी', 'आपुस', 'लच्छन', 'जोतसी', 'आँचल', 'जोबन', 'अगनित', 'अचरज', इत्यादि शब्द कितने मधुर हैं, और व्यवहार में कितने समीप हैं। उनके ये रूप कानों को किंचित् मात्र भी अखरनेवाले नहीं हैं। इनका प्रयोग बड़ी ही सुंदरता से किया गया है। इन तद्भव रूपों के प्रयोग से भाषा में कहीं शिथिलता या ग्राम्यत्व आ गया हो यह बात भी नहीं है, वरन् इसके विपरीत भाषा और अधिक व्यावहारिक तथा मधुर हो गई है। इसके अतिरिक्त इनका प्रयोग इतने सामान्य और चलते ढंग से हुआ है कि रचना की अधिकता में इनका पता नहीं लगता। इस प्रकार बाबू साहब ने दोनों शैलियों के बीच एक ऐसा सफल सामंजस्य स्थापित किया कि भाषा में एक नवीन जीवन आ गया और इसका रूप और भी व्यावहारिक और सरल हो गया। यह भारतेंदु की उद्भावना थी।

लोकोक्तियों और मुहावरों से भाषा में शक्ति और दीप्ति उत्पन्न होती है इसका ध्यान भारतेंदु ने अपनी रचनाओं में बराबर रखा है, क्योंकि इनकी उपयोगिता उनसे छिपी न थी। इनका प्रयोग इतनी मात्रा में हुआ है कि कथन शैली में चमत्कार और बल आ गया है। 'गूँगे का गुड़', 'मुँह देखकर जीना', 'बैरी की छाती ठंडी होना',

'अंधे की लकड़ी', 'कान न दिया जाना', 'झख मारना' इत्यादि अनेकानेक मुहावरों का प्रयोग स्थान-स्थान पर बड़ी सुंदरता से किया है। यही कारण है कि उनकी भाषा इतनी शक्तिशालिनी और सजीव दिखाई पड़ती है। मुहावरों के प्रयोग में कहीं भी अभद्रता नहीं आने पाई है, जैसा कि पंडित प्रतापनारायणजी मिश्र की भाषा में मिली थी। जहाँ लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग हुआ है वहाँ शिष्ट और परिमार्जित रूप में। इस प्रकार भारतेंदु की भाषा शैली में नागरिकता की झलक सर्वत्र दिखाई पड़ती है।

इन विशेषताओं के साथ-साथ उनमें कुछ पंडिताऊपन का भी आभास मिलता है, पर उनकी रचनाओं के विस्तार में इसका कुछ पता नहीं चलता। 'भई' (हुई), 'करके' (कर), 'कहाते हैं' (कहलाते हैं) 'ढकौ' (ढको), 'सो' (वह), 'होई' (होही), 'सुनै', 'करै' आदि में पंडिताऊपन, अवधीपन या व्रजभाषापन की झलक भी मिलती है। इस त्रुटि के लिए हम उन्हें दोषी नहीं ठहरा सकते; क्योंकि उस समय तक भाषा का न तो कोई आदर्श ही उपस्थित हो पाया था और न उसका कोई व्यवस्थित रूप ही चल रहा था। भाषा-शैली के आरंभ काल से लेकर इस समय तक इन रूपों का प्रयोग निरंतर चला आ रहा था; ऐसी अवस्था में इन साधारण विषयों का सम्यक् परिहार हो ही कैसे सकता था? इसके अतिरिक्त रचना आदि के प्रवाह में उनसे कुछ व्याकरण संबंधी भूलें भी हुई हैं। स्थान-स्थान पर 'विद्यानुरागिता' (विद्यानुराग के लिए), 'श्यामताई' (श्यामता) पुल्लिंग में, 'अधीरजमना' (अधीरमना), 'कृपा किया है' (कृपा की है), 'नाना देश में' (नाना देशों में) व्यवहृत दिखाई पड़ते हैं इसके लिए भी उनको विशेष दोष नहीं दिया जा सकता है क्योंकि उस समय तक व्याकरण संबंधी विषयों का विचार हुआ ही न था। जितनी कहा-सुनी इस विषय पर पीछे चलकर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय में हुई उस समय तक नहीं हुई थी। इस दृष्टि से भाषा का परिमार्जन होना आगे के लिए बचा रहा। इसके अतिरिक्त इस अव्यवस्था का एक कारण यह भी था कि उन्हें अपने जीवन में इतना लिखना था कि उसी में वे व्यस्त थे। इन त्रुटियों की ओर ध्यान देना उनके लिए प्रायः असंभव सा था। इसी कार्य-विस्तार के कारण उनका ध्यान इन विचारणीय विषयों की ओर नहीं जा सका।

कार्यभार इस बात का था कि अभी तक भाषा-साहित्य के कई विषयों का—जो साहित्य के आवश्यक अंग थे—आरंभ तक न हुआ था। भाषा और साहित्य की इस दीन-हीन अवस्था की ओर उनका ध्यान गया। उन्हें भाषा-साहित्य के सब अंगों का टेढ़ा-सीधा एक स्वरूप उपस्थित करना था, क्योंकि अभी तक गद्य-साहित्य का विकास इस विचार से हुआ ही न था कि उसमें मानव-जीवन के सब प्रकार के भावों का प्रकाशन ह ।। अभी तक लिखनेवाले गंभीर मुद्रा ही में बोलते थे। हास्य-विनोद के मनोरंजक एवं सरल साहित्य का निर्माण भी समाज के लिए आवश्यक है इस ओर उनके पूर्व के लेखकों का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ था। "हिंदी लेखकों में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने ही पहले-पहल गद्य की भाषा में हास्य और व्यंग्य का पुट दिया।" इस प्रकार की रचना का श्रीगणेश कर उन्होंने बड़ा ही स्तुत्य कार्य किया, क्योंकि इससे भाषा-साहित्य में रोचकता और आत्मीयता उत्पन्न होती है। जिस प्रकार प्रचुर मात्रा में मिष्टान्नभोजी को मिष्टान्नभोजन की रुचि को स्थिर रखने तथा बढ़ाने के लिए बीच-बीच में चटनी की आवश्यकता रहती है, ठीक उसी प्रकार गंभीर भाषा-साहित्य की चिरस्थायिता तथा विकास के लिए मनोरंजक और व्यंगात्मक साहित्य का निर्माण नितांत आवश्यक है। चटनी के अभाव में जैसे सेर भर मिठाई खानेवाला व्यक्ति आध सेर, ढाई पाव ही खाने पर घबड़ा उठता है और भूख रहने पर भी जी के ऊब जाने से वह अपना पूरा भोजन नहीं कर सकता, उसी प्रकार सदैव गंभीर साहित्य का अध्ययन करते-करते समाज का चित्त ऊब उठता है। ऐसी अवस्था में वह 'मनफेर' का मसाला न पाकर दूसरी भाषाओं का मुखापेक्षी बनता है। उसमें एक प्रकार की नीरसता उत्पन्न हो जाती है।

हास्य-प्रधान साहित्य के विकास का ध्यान रखकर ही उन्होंने 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' ऐसे लेखों का प्रकाशन किया। स्वप्न में आपने एक "गगनगत अविद्या-वरुणालय" की स्थापना की। उस अविद्या-वरुणालय की नियमावली सुनाते-सुनाते आप हाज़रीन जलसह से फरमाते हैं—"अब आप सज्जनों से यही प्रार्थना है कि आप अपने-अपने लड़कों का भेजें और व्यय आदि की कुछ चिंता न करें क्योंकि प्रथम तो हम किसी अध्यापक को मासिक देंगे नहीं

और दिया भी तो अभी दस पाँच वर्ष पीछे देखा जायगा। यदि हमको भोजन की श्रद्धा हुई तो भोजन का बंधान बाँध देंगे, नहीं, यह नियत कर देंगे कि जो पाठशाला संबंधी द्रव्य हो उसका वे सब मिलकर 'नास' लिया करें। अब रहे केवल पाठशाला के नियत किए हुए नियम सो आपको जल्दी सुनाए देता हूँ। शेष स्त्री-शिक्षा का जो विचार था वह आज रात को हम घर पूँछ लें तब कहेंगे।" भाषा भाव के अनुरूप चलती है। भावों के व्यक्त करने की प्रणाली के साथ-साथ भाषा-शैली भी अपने रूप में अपेक्षित परिवर्तन कर लेती है। 'बंधान बाँध देंगे', 'सब मिलकर नास लिया करें', 'घर पूँछ लें', इत्यादि में प्रकाशन-प्रणाली की विचित्रता के अतिरिक्त शब्द-संचयन में भी एक प्रकार का चमत्कार-विशेष छिपा है। इसीलिये कहा जाता है कि विषय का प्रभाव भाषा पर पड़ता है।

ठीक यही अवस्था भारतेंदु की उस भाषा की हुई है जिसका प्रयोग उन्होंने अपने गवेषणापूर्वक मनन किए हुए तथ्यातथ्य-निरूपण में किया है। भाव-गांभीर्य के साथ-साथ भाषा-गांभीर्य का आ जाना नितांत स्वाभाविक है। जब किसी ऐसे मननशील विषय पर उन्हें लिखने की आवश्यकता पड़ी है जिसमें सम्यक् विवेचन अपेक्षित था तब उनकी भाषा भी गंभीर हो गई है। ऐसी अवस्था में यदि भाषा का चटपटापन जाता रहे और उसमें कुछ नीरसता आ जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस प्रकार की भाषा का प्रमाण हमें उनके उस लेख में मिलता है जो उन्होंने 'नाटक-रचना-प्रणाली' पर लिखा अथवा लिखवाया है। उसका थोड़ा सा अंश हम उदाहरणार्थ उद्धृत करते हैं—

"प्राचीन समय में संस्कृत भाषा में महाभारत आदि का कोई प्रख्यात वृत्तांत अथवा कवि-प्रौढ़ोक्ति संभूत, किंवा लोकाचारसंघटित, कोई कल्पित आख्यायिका अवलंबन करके, नाटक प्रभृति दशविध रूपक और नाटिका प्रभृति अष्टादश प्रकार उपरूपक लिपिबद्ध होकर, सहृदय सभासद लोगों की तात्कालिक रुचि अनुसार, उक्त नाटक-नाटिका प्रभृति दृश्यकाव्य किसी राजा की अथवा राजकीय उच्चपदाभिषिक्त लोगों की नाट्यशाला में अभिनीत होते थे।"

"प्राचीन काल के अभिनयादि के संबंध में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शकमंडली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि काव्य-रचना करके सामाजिक लोगों का चित्तविनोदन कर गये हैं। किंतु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे संप्रति प्राचीन मत अवलंबन करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता।"

(इंडियन प्रेस द्वारा प्रकाशित भारतेंदु-नाटकावली का प्रथम संस्करण, पृ० ७६७-८)

इस लेख की भाषा में समासांत पदावली के साथ संस्कृत के तत्सम शब्द प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। कथन-प्रणाली निरर्थक विस्तारयुक्त है और व्यावहारिक भाषा का जान-बूझकर विरोध किया गया ज्ञात होता है। तद्भव शब्दों का प्रायः लोप सा है। वाक्य-रचना भी जटिलता से आपूरित है। भारतेंदु की साधारण भाषा से इस लेख की भाषा में स्पष्ट रूप से भिन्नता लक्षित होती है। यह भाषा उनकी स्वाभाविक न होकर बनावटी हो गई है। इसमें मध्यम मार्ग का सिद्धांत नहीं दिखाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त उनकी साधारण भाषा में जो व्यावहारिकता मिलती है वह भी इसमें नहीं प्राप्त होती। एक शब्द में हम कह सकते हैं कि यह भाषा भारतेंदु की नहीं है।

उनकी अन्य रचनाओं में एक प्रकार की स्निग्धता और चलतापन दिखाई पड़ता है। ऐसे स्थलों पर भाषा का सरल और प्रचलित रूप ही प्रयुक्त हुआ है। जैसे:—

"संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है। कोई नेम धर्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त है, कोई मतमतांतर के झगड़े में मतवाला हो रहा है। हर एक दूसरे को दोष देता है, अपने को अच्छा समझता है। कोई संसार को ही सर्वस्व मानकर परमार्थ से चिढ़ता है। कोई परमार्थ को ही परम पुरुषार्थ मानकर घर-बार तृण सा छोड़ देता है। अपने अपने रंग में सब रँगे हैं; जिसने जो सिद्धांत कर लिया है, वही उसके जी में गड़ रहा है और उसी के खंडन-मंडन में वह जन्म बिताता है।"

यही उनकी प्रतिनिधि शैली है। भाषा का कितना परिमार्जित और व्यवस्थित रूप है। इसमें मध्यम मार्ग का अवलंबन स्पष्ट

लक्षित होता है। इसमें भाषा का प्रौढ़ रूप है, वाक्य-रचना भली भाँति गठी हुई और मुहावरेदार है। इसमें आकर्षण भी है और चलतापन भी। छोटे-छोटे वाक्यों में कितनी शक्ति होती है इसका पता इस उद्धरण से स्पष्ट लग जाता है। कथन एवं प्रतिपादन में बल दिखाई पड़ता है।

कुछ लोगों का यह कहना कि उन्होंने जन-साधारण की रुचि एकदम उर्दू की ओर से हटाकर हिंदी की ओर प्रेरित कर दी थी अंशतः भ्रामक है, क्योंकि उन्होंने 'एकदम' नहीं हटाया। सम्यक् विवेचन करने पर यही कहना पड़ता है कि उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलंबन करने पर भी किसी भाषा विशेष का तिरस्कार नहीं किया। उन्होंने यही किया कि परिमार्जन एवं शुद्धि करके दूसरे की वस्तु को अपने योग्य बनाया। इसमें वे विशेष कुशल और समर्थ थे। गद्य की एक पुष्ट नींव डालने से अपने आप ही लोगों की प्रवृत्ति राजा शिव-प्रसाद जी की अरबी-फारसी-मिश्रित हिंदी और रचना-प्रणाली की ओर से हट गई; और उन्हें विश्वास हो गया कि हिंदी में भी वह ज्योति और जीवन वर्त्तमान है जो अन्यान्य जीवित भाषाओं में दृष्टि-गोचर होता है। हाँ, उसका उद्योगशील विकास एवं परिमार्जन आव-श्यक है। इसके अतिरिक्त यह कहना कि "गद्यशैली को विषयानुसार बदलने का सामर्थ्य उनमें कम था" नितांत सारहीन कथन है। परिस्थिति के अनुकूल उनमें भाषाशैली के परिवर्तन की पूरी क्षमता थी। इसका प्रमाण उनकी सभी रचनाओं में प्राप्त होता है। भारतेंदु में प्रधानतः दो प्रकार की शैलियों का उपयोग दिखाई पड़ता है—इतिवृत्तात्मक एवं भावात्मक। प्रथम प्रकार के अंतर्गत नाटक और नाटक के बाहर के ऐसे सभी स्थल आ जाते हैं जहाँ उन्होंने ऐतिहासिक इतिवृत्त तथा विषय का सीधा परिचय दिया है। ऐसे स्थलों में वाक्य-रचना सरल और लघु प्रसारयुक्त मिलती है। संस्कृत और फारसी अरबी के तद्भव एवं अत्यंत व्यावहारिक शब्दों का प्रयोग दिखाई पड़ता है। इस प्रकार की रचनापद्धति में प्रायः एक प्रकार की नीरसता और रूक्षता आ जाती है परंतु भारतेंदु के ऐसे स्थलों पर भी रूक्षता अधिक खटकती नहीं क्योंकि उनकी भावव्यंजना सर्वत्र भावुकता का योग लिए

रहती है। दूसरा कारण रूक्षता के अभाव का है, वाक्यों का सुसंबद्ध जोड़-तोड़, जिसके कारण कथन प्रवाहशील बना रहता है और नीरसता नहीं उत्पन्न होने पाती। रूक्षता और सरसता स्थिति तथा विषय पर भी अवलंबित रहती है। यदि इतिवृत्त ऐतिहासिक घटना-संघटन पर अधिक आश्रित है तब तो भावुकता के अभाव के कारण नीरसता को बचाना कठिन हो जाता है, परंतु यदि इतिवृत्त वर्णन-प्रधान है तो भावुकता का प्रवेश हो सकता है। ऐसी स्थिति में किसी सुंदर और रमणीय वस्तु के शुद्ध वर्णन में भी सहृदयता का प्रभाव अवश्य पड़ता है और अभिव्यंजना माधुर्ययुक्त हो जाती है। नीचे दोनों प्रकार के इतिवृत्तों के उदाहरण उपस्थित किए जाते हैं। भाषा शैली पर विषय का प्रभाव किस प्रकार पड़ता है इसका रूप इनमें दिखाई पड़ेगा :—

"भूमि चारो ओर हरी-हरी हो रही है। नदी-नाले बावली-तालाब सब भर गए। पच्छी लोग पर समेटे पत्तों की आड़ में चुप-चाप सकपके से होकर बैठे हैं। बीरबहूटी और जुगुनू पारी-पारी रात और दिन को इधर-उधर बहुत दिखाई पड़ते हैं। नदियों के करारे धमाधम टूटकर गिरते हैं। सर्प निकल-निकल अशरण से इधर-उधर भागे फिरते हैं। मार्ग बंद हो रहे हैं। परदेशी जो जिस नगर में हैं, वहीं पड़े-पड़े पछता रहे हैं, आगे बढ़ नहीं सकते। वियोगियों को तो मानो छोटा प्रलय-काल ही आया है।"

( भारतेंदु-नाटकावली, प्रथम संस्करण, इंडियन प्रेस, पृ० ५३९ )

"जब हरिश्चंद्र के पिता त्रिशंकु ने इसी शरीर से स्वर्ग जाने के हेतु वशिष्टजी से कहा तो उन्होंने उत्तर दिया कि वह अशक्य काम हमसे न होगा। तब त्रिशंकु वशिष्ट के सौ पुत्रों के पास गया और जब उनसे भी कोरा जवाब पाया तब कहा कि तुम्हारे पिता और तुम लोगों ने हमारी इच्छा पूरी नहीं की और हमको कारा जवाब दिया इससे हम अब दूसरा पुरोहित करते हैं। वशिष्ट के पुत्रों ने इस बात से रुष्ट होकर त्रिशंकु को शाप दिया कि तू चांडाल हो जा। बिचारा त्रिशंकु चांडाल बनकर विश्वामित्र के पास गया और दुखी होकर अपना सब हाल वर्णन किया। विश्वामित्र ने अपने पुराने बैर का बदला लेने का अच्छा अवसर सोचकर राजा से प्रतिज्ञा किया कि इसी देह से तुमको स्वर्ग भेजेंगे और सब मुनियों को बुलाकर यज्ञ करना चाहा। सब ऋषि तो आये, पर वशिष्ट के सौ पुत्र नहीं आये और कहा कि

जहाँ चांडाल यजमान और क्षत्रिय पुरोहित वहाँ कौन जाय। क्रोधी विश्वामित्र ने इस बात से रुष्ट होकर शाप से वशिष्ट के सौ पुत्रों को भस्म कर दिया। यह देखकर और विचारे ऋषि मारे डर के यज्ञ करने लगे।"

( भारतेंदु नाटकावली, प्रथम संस्करण, इंडियन प्रेस, पृ० ३६८ )

उपर्युक्त दोनों अवतरणों के भिन्न-भिन्न दो विषय हैं। एक में प्रकृति वर्णन है और दूसरे में शुद्ध ऐतिहासिक इतिवृत्त। तदनुसार दोनों में दो प्रकार की इतिवृत्तात्मक शैली दिखाई पड़ती है। "त्रिशंकु कहा" और "प्रतिज्ञा किया" में जो अशुद्धियाँ वर्तमान हैं वही इन उद्धरणों को भारतेंदु का अपना लिखा प्रमाणित करती हैं। प्रथम अंश की वाक्य-योजना की अत्यंत लघुता एवं प्रवाहशील सुसंबद्धता बड़ी सुंदर और सकारण है। द्वितीय उद्धरण में भी सुसंबद्धता तथा प्रवाह है, परंतु वाक्यों का विस्तार, बात कहने का सरल और सीधा ढंग कुछ भिन्न होते हुए भी सुबोध है। भाषा का रूप पूर्व अवतरण की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक हो गया है, अरबी-फारसी के चलते शब्द भी कम ही आए हैं। सरल से सरल संस्कृत के शब्द ही— विशेषकर तद्भव रूप – अधिक प्रयुक्त हुए हैं। वाक्यों की गढ़न सीधी है।

भारतेंदु में भावावेश की शैली भी दो प्रकार की प्राप्त होती है। एक में भावावेश की मात्रा कुछ अधिक तथा द्वितीय में अपेक्षाकृत कुछ कम दिखाई पड़ती है। इसी आवेश के न्यूनाधिक्य के आधार पर कुछ लोगों ने इसे भिन्न-भिन्न प्रकार मान लिया है परंतु वस्तुतः मूल रूप दोनों का एक ही है। भारतेंदु की प्रतिनिधि शैली यही है। उनके अनेक नाटकों में इसी प्रणाली की भावव्यंजना अधिक है। भावाभि-व्यंजन की यह पद्धति बड़ी परिष्कृत, प्रवाहयुक्त एवं व्यावहारिक है। सर्वत्र वाक्य-विन्यास सीधा, स्पष्ट और सरल मिलता है। इस शैली के प्रयोग में भाषा व्यावहारिक दिखाई पड़ती है। उर्दूपन कहीं खोजने पर भी नहीं मिलेगा। अरबी-फारसी शब्दों का व्यवहार भी कम ही हुआ है। संस्कृत-तत्समता के साथ-साथ व्यावहारिक एवं तद्भव शब्दों का सुंदर उपयोग सर्वत्र मिलेगा।

प्रथम प्रकार की भावावेश-शैली में वाक्यों का विस्तार अत्यंत लघु रहता है। एक के उपरांत दूसरा और दूसरे के बाद तीसरे वाक्य

का प्रकृत तथा सुसंबद्ध संघटन रहता है। क्रोध इत्यादि के आवेग में जैसे मनुष्य एक साथ ही—एक ही झोंक में—सब बातें कह डालना चाहता है और बिना संपूर्ण बात कहे रुकना ही नहीं चाहता, वही रूप इस पद्धति में भी दिखाई पड़ता है। एक ही भाव और एक ही बात को मनुष्य अनेक शब्दों और वाक्यों में अनेक प्रकार से कहता है, फिर भी उसे संतोष नहीं प्राप्त होता है। अत्यंत आवेश में कहते समय एक प्रकार का उद्वेग उत्पन्न होता है जिसका प्रभाव शब्दों एवं वाक्यों के विस्तार और रचनाक्रम पर अवश्य पड़ता है। ऐसे अवसरों पर विस्तृत भाव को घनीभूत करके थोड़े से थोड़े शब्दों में कहने की प्रवृत्ति के कारण मुहावरों और कहावतों का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। ये ही विशेषताएँ भारतेंदु की इस शैली में भी प्राप्त होती । जैसे:—

"मैं अपने इन मनोरथों को किसको सुनाऊँ और अपनी उमंगे कैसे निकालूँ ! प्यारे, रात छोटी है और स्वाँग बहुत हैं। जीना थोड़ा और उत्साह बड़ा। हाय! मुझ सी मोह में डूबी को कहीं ठिकाना नहीं। रात दिन रोते ही बीतते हैं। कोई बात पूँछनेवाला नहीं, क्योंकि संसार में जी कोई नहीं देखता, सब ऊपर की ही बात देखते हैं। हाय ! मैं तो अपने-पराए सबसे बुरी बनकर बेकाम हो गई।......तुमने विश्वासघात किया। प्यारे ! तुम्हारे निर्दयीपन की भी कहानी चलेगी। हमारा तो कपोतव्रत है। स्नेह लगाकर दगा देने पर भी सुजान कहलाते हो। बकरा जान से गया, पर खानेवाले को स्वाद न मिला। हाय ! यह न समझा था कि यह परिणाम करोगे। वाह ! खूब निवाह किया। बधिक भी बधकर खबर लेता है, पर तुमने सुधि न ली।"

( भारतेंदु-नाटकावली, प्रथम संस्करण, इंडियन प्रेस, पृ० ५४५ )

द्वितीय प्रकार की भावावेश-शैली उन स्थलों पर दिखाई पड़ती है जहाँ आत्मक्षोभ, कटु अनुभूति एवं व्यंगपूर्ण अभिव्यंजना होती है। यह पूर्व प्रकार का शुद्ध भावावेश नहीं है। इसमें भीतर के भरे उद्गारों को आतुरतापूर्वक बाहर निकालने की एकांत चेष्टा ही नहीं ज्ञात होती रन् उसे ऐसे शब्दों में कहना पड़ता है जो व्यंगात्मक कटुता से युक्त हों। ऐसी स्थिति में विचार-व्यवस्था के कारण कथन कुछ वक्र एवं वाक्य अपेक्षाकृत बड़े हो ही जाते हैं। इसके अतिरिक्त किसी पर व्यंग करते समय कोई-कोई लेखक तो उर्दू-पदावली का प्रयोग विशेष रूप से करते हैं जैसे पं० रामचंद्र शुक्ल एवं पं० महावीरप्रसाद

द्विवेदी और कोई-कोई संस्कृत-तत्समता का आश्रय लेते हैं। भारतेंदु इस प्रकार की शैली में प्रायः संस्कृत-तत्समता का प्रयोग करते हैं। क्षोभ तथा व्यंग समन्वित शैली का प्रयोग उनकी रचनाओं में कहीं ही कहीं है परंतु है बड़ा निर्मल और प्रभविष्णु। इसका सर्वोत्तम उदाहरण नीलदेवी की भूमिका में प्राप्त होता है:—

"आज बड़ा दिन है। क्रिस्तान लोगों को इससे बढ़कर कोई आनंद का दिन नहीं है। लेकिन मुझको आज और दुःख है। इसका कारण मनुष्य-स्वभाव-सुलभ ईर्षा मात्र है। मैं कोई सिद्ध नहीं कि रागद्वेष से विहीन हूँ। जब मुझे रमणी लोग मेदसिंचित केश-राशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्ना-भरण और विविध वर्ण वसन से भूषित, क्षीण कटिदेश कसे निज-निज पतिगण के साथ प्रसन्न वदन इधर से उधर फर फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है। इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांगी युवती समूह की भाँति हमारी कुल-लक्ष्मी-गण भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमें, किंतु और बातों में जिस भाँति अँगरेजी स्त्रियाँ सावधान होती हैं, पढ़ी लिखी होती हैं, घर का काम-काज सँभालती हैं, अपने संतानगण को शिक्षा देती हैं, और इतने समुन्नत मनुष्य जीवन को व्यर्थ गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोतीं, उसी भाँति हमारी गृह-देवियाँ भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें यही लालसा है। इस उन्नति-पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुल-परंपरा मात्र है और कुछ नहीं है"।

( भारतेंदु-नाटकावली, प्रथम संस्करण, इंडियन प्रेस, पृ० ६७ )

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेंदु जी ने गद्य-शैली के विभिन्न रूपों की नींव डाली और भाषा का एक परिमार्जित और चलता रूप स्थिर किया। उनका महत्त्व इसी में है कि उन्होंने गद्य-शैली की अव्य-वस्था को हटाकर उसे एक परिष्कृत एवं निश्चित मार्ग पर ला खड़ा किया। इस कार्य के लिये एक ऐसे ही शक्तिशाली लेखक की अपेक्षा का अनुभव हो रहा था और उसकी पूर्ति उनके व्यक्तित्व द्वारा हुई। भारतेंदु के ही जीवन-काल में कई विषयों पर लोगों ने लिखना आरंभ कर दिया था। उनके समय तक इतिहास, भूगोल,

विज्ञान, वेदांत, निबंध. उपन्यास, नाटक इत्यादि आवश्यक विषयों के कतिपय ग्रंथों का निर्माण भी हो चुका था। अनेक पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हो रही थीं। उत्तरी भारत में हिंदी का प्रसार दिन दूना रात चौगुना बढ़ रहा था। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण था कि अब हिंदी भाषा की व्यापकता बढ़ती जा रही थी। उसमें बल आ रहा था। भाव-प्रकाशन में शब्दों की न्यूनता दिन पर दिन दूर होती जा रही थी; किसी भी विषय और ज्ञान विशेष पर लिखते समय भाव-व्यंजन में ऐसी कोई अड़चन नहीं उत्पन्न होती थी जिसका दोष भाषा की निर्बलता को दिया जा सकता इस समय तक लोगों ने अनेक स्वतंत्र विषयों पर लिखना प्रारंभ कर दिया था। उन्हें आधार की कोई आवश्यकता न रह गई थी। बाबू हरिश्चंद्र ने भाषा का रूप स्थिर कर दिया था। अब भाषा और गद्य-साहित्य के विकास की आवश्यकता थी।

इस कार्य का संपादन करने लिये एक दल भारतेंदु जी के ही जीवन काल में उत्पन्न हो चुका था। पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित बदरीनारायण चौधरी, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, लाला श्रीनिवासदास, ठाकुर जगमोहनसिंह प्रभृति लेखक साहित्य- क्षेत्र में अवतीर्ण हो चुके थे। उस समय के अधिकांश लेखक किसी न किसी पत्र-पत्रिका का संपादन कर रहे थे। इन पत्र-पत्रिकाओं और इन लेखकों की प्रतिभाशाली रचनाओं से भाषा में सजीवता और प्रौढ़ता आने लगी थी। उस समय जितने लेखक लिख रहे थे उनमें कुछ-न-कुछ शैली-विषयक विशेषता स्पष्ट दिखाई पड़ती थी। इससे उनकी व्यक्तिगत क्षमता और विशिष्टता का अच्छा परिचय मिलता है।

यों तो सभी विषयों पर कुछ न कुछ लिखा जा रहा था। परंतु निबंध-रचना का स्वच्छ और परिष्कृत रूप बालकृष्ण भट्ट तथा प्रतापनारायण मिश्र ने उपस्थित किया। इन लोगों ने साधारण परंतु विभिन्न विषयों पर अपने स्वतंत्र विचार लिपिबद्ध किए। इस प्रकार निबंध-रचना का भी हिंदी-गद्य में आरंभ हुआ। इन लोगों के निबंध वास्तव में निबंध की कोटि में आते हैं। इन निबंधों के विषय की व्यावहारिकता के साथ साथ भावव्यंजना एवं भाषा भी सर्वत्र एकरस व्यावहारिक दिखाई पड़ती है। पर अभी तक उनमें वैयक्तिक अनुभूति की सम्यक्

पं० बालकृष्ण भट्ट

व्यंजना नहीं होती थी। यह आरंभिक काल था अतः पुष्टता का अभाव रहना स्वाभाविक ही था। रचना का यह प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि पाता गया और अविरत रूप में आज तक चला आ रहा है। उसी काल से इसमें क्रमशः वैयक्तिक अनुभूति-व्यंजन सुसंबद्ध विचार-प्रतिपादन की पद्धति और तर्क का रूप विकसित होने लगा था।

बालकृष्ण भट्ट
ई० सन् १८४४-१९१४

जिस समय पंडित बालकृष्ण भट्ट ने लिखना आरंभ किया था उस समय तक लेखन-प्रणाली में तीन प्रकार की भाषाओं का उपयोग होता था—एक तो वह जिसके प्रवर्तक राजा शिवप्रसाद जी थे, जिसमें उर्दू शब्द तत्सम रूप में ही प्रयुक्त होते थे साथ ही वाक्यों का उतार-चढ़ाव और विशेष्य-विशेषणों का संबंध भी उर्दू ढंग का था; दूसरा वह जिसमें अन्य भाषाओं के शब्दों का संपूर्ण बहिष्कार ही समीचीन माना जाता था और जिसके सहायक राजा लक्ष्मणसिंह थे; तीसरा रूप वह था जिसका निर्माण भारतेंदु जी ने किया और जिसमें मध्यम-मार्ग का अवलंबन किया जाता था। इसमें शब्द तो उर्दू के भी लिए जाते थे परंतु वे या तो बहुत चलते होते थे या विकृत होकर हिंदी बने हुए। भट्ट जी उर्दू शब्दों का प्रयोग प्रायः करते थे और वह भी तत्सम रूप में। ऐसी अवस्था में हम उन्हें शुद्धिवादियों में स्थान नहीं दे सकते। कहीं-कहीं तो वे हमें राजा शिवप्रसाद के रूप में मिलते हैं। जैसे:

"मृतक के लिये लोग हज़ारों लाखों खर्च कर आलीशान रौजे, मक़बरे क़ब्रें संगमर्मर या संगमूसा की बनवा देते हैं, क़ीमती पत्थर मणिक ज़मुर्रद से उन्हें आरास्ता करते हैं पर वे मक़बरे क्या उसकी रूह को उतनी राहत पहुँचा सकते हैं जितनी उसके दोस्त आँसू टपकाकर पहुँचाते हैं?"

( 'आँसू' शीर्षक निबंध, साहित्य-सुमन से )

उन्हें भाषा को व्यापक बनाने की विशेष चिंता थी। यह बात उनकी रचनाओं के देखने से स्पष्ट प्रकट होती है। अँगरेजी राज्य के साथ-साथ अँगरेजी सभ्यता और भाषा का विस्तार बढ़ता ही जाता था। उस समय एक नवीन समाज उत्पन्न हो रहा था। अतएव एक ओर तो हिंदी शब्दकोश का अभाव और दूसरी ओर नवीन भावों के प्रकाशन की आवश्यकता ने उन्हें यहाँ तक उत्साहित किया

कि स्थान-स्थान पर वे भावद्योतन की सुगमता के विचार से अँगरेजी के शब्द ही उठाकर रख देते थे, जैसे Character, Feeling, Philosophy, Speech आदि। यहीं तक नहीं, कभी-कभी शीर्षक तक अँगरेजी के दे देते थे। इसके अतिरिक्त उनकी रचना में स्थान-स्थान पर पूर्वी ढंग के 'समझाय, बुझाय' आदि प्रयोग तथा 'अधिकाई' जैसे रूप भी दिखाई पड़ते हैं।

इस समय के प्रायः सभी लेखकों में एक बात सामान्य रूप में पाई जाती है। वह यह कि सभी की शैलियों में उनके व्यक्तित्व की छाप मिलती है। पंडित प्रतापनारायण मिश्र और भट्ट जी में यह बात विशेष रूप से थी। उनके शीर्षकों और भाषा की भावभंगी से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह उन्हीं की लेखनी है। भट्ट जी की भाषा में मिश्र जी की भाषा की अपेक्षा नागरिकता की मात्रा कहीं अधिक पाई जाती है। उनकी हिंदी भी अपनी ही हिंदी होती थी। इसमें बड़ी रोचकता एवं सजीवता थी। कहीं भी मिश्र जी की ग्रामीणता की झलक उसमें नहीं मिलती। उनका वायुमंडल साहित्यिक था। विषय और भाषा से संस्कृति टपकती है। उनकी रचनाओं में सर्वत्र मुहावरों का बहुत ही सुंदर प्रयोग हुआ है। स्थान-स्थान पर मुहावरों की लड़ी सी गुथी दिखाई पड़ती है। इन सब बातों का प्रभाव यह पड़ा कि भाषा में कांति, ओज और आकर्षण उत्पन्न हो गया। इसके अतिरिक्त अधिक भाव एवं विचार को मुहावरों और कहावतों के प्रयोग द्वारा थोड़े में कहने की शक्ति भाषा में बढ़ चली।

उनके विषय-चयन में भी विशेषता और चमत्कार-प्रियता दिखाई पड़ती है। साधारण विषयों पर भी इन्होंने सुंदर लेख लिखे हैं, जैसे 'कान', 'नाक', 'आँख', 'बातचीत', इत्यादि। इनकी व्यक्तिगत शैली का अच्छा उदाहरण इनके इन्हीं लेखों में पाया जाता है। भाषा में व्यावहारिक प्रवाह और उतार-चढ़ाव दिखाई पड़ता है। मुहावरों के सुंदर प्रयोग में आत्मीयता और कथन का सीधापन प्रकट होता है, जैसेः—

"वहो हमारी साधारण बातचीत का ऐसा घरेलू ढंग है कि उसमें न करतल-ध्वनि का कोई मौक़ा है, न लोगों के क़हक़हे उड़ाने की कोई बात उसमें रहती है। हम तुम दो आदमी प्रेमपूर्वक संलाप कर रहे हैं। कोई चुटीली बात आ गई हँस पड़े तो मुसकराहट से ओठों का केवल फरक उठना

ही इस हँसी की अंतिम सीमा है। स्पीच का उद्देश्य अपने सुननेवालों के मन में जोश और उत्साह पैदा कर देना है। घरेलू बातचीत मन रमाने का एक ढंग है। इसमें स्पीच की वह सब संजीदगी बेक़दर हो धक्के खाती फिरती है।" ('बातचीत' शीर्षक निबंध से)

भट्ट जी की भाषा में प्रवाह और अपनापन रहने पर भी अनेक चिंत्य प्रयोग भी दिखाई पड़ते हैं। ब्रजभाषा का ऐकार एवं औकार का बाहुल्य इनकी शैली में भी चलता रहा; कटै, दै, पड़ैगा, करैंगी, पकैगा, कहैगा, पचै, लड़ैं, सिधारैं, मिलै, घरैलू, इत्यादि में यह स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त पूरबी शब्दों के प्रयोग में भी स्वच्छंदता ही दिखाई देती है—हेठा, टेघराना, भागाभूगी, चट्ट, चराँई, जोरू, खटराग, ऐंचपेंच, खुचुर ऐसे अनेकानेक शब्दों का व्यवहार सर्वत्र मिलता है। लिंगों का अशुद्ध प्रयोग भी कम नहीं है, 'स्वच्छ रखने की एक रास्ता है', 'नीचे के ओर जाते हुए', 'पहले तक की तो मुझे होश है', 'लीला देखा', 'वेद के उत्पत्ति का समय', 'हज़ार हज़ार उपाय उनके हटाने की की जाती है', ऐसे प्रयोग बहुत मिलते हैं। वाक्य यदि बड़े हुए तो कहीं-कहीं दो बार कर्त्ता का प्रयोग किया गया है और यदि उर्दू-फारसी शब्दों से भट्ट जी को कोई विशेष विरोध नहीं था तो यदा-कदा वाक्य-योजना में क्रमविन्यास भी उर्दू ढंग का आ जाता था; जैसे, 'बाद गिने जाने के', 'सुपुर्द उन्होंने मुझे कर दिया', इत्यादि; पर ऐसे प्रयोग अधिक नहीं हैं। इसी प्रकार के अन्य अनेक दुर्बल प्रयोग मिल सकते हैं। बात सच यह है कि उस समय भाषा के परिष्कार की ओर ध्यान नहीं गया था और लिखने की आवश्यकता अधिक थी। विरामादि चिह्नों के प्रयोग में भी बड़ी असावधानी चलती रही।

भट्ट जी ने लिखा बहुत है। अवश्य ही उस काल का लिखना स्वांतःसुखाय और अंतर्प्रेरणा का द्योतक नहीं था। समाचार पत्रों के लिये मसाला जुटाना ही उस समय का प्रेरक भाव था; परंतु देशकाल की आलोचना का ऐसा अनुभूति-मूलक और आत्मीयता से भरा-पुरा रूप साधारणतः आजकल भी नहीं मिलता। साधारण और व्यावहारिक विषयों के साथ-साथ भट्ट जी ने कुछ गंभीर विषयों पर भी लिखा है; जैसे—शब्द की आकर्षण शक्ति, साहित्य जन-समूह का विकास है, आत्मनिर्भरता, चरित्रशोधन, आत्मगौरव,

कल्पना। इन निबंधों में विषय-प्रतिपादन की पद्धति भी संयत और स्वच्छ है। विषयानुरूप भाषाशैली को ढालने की चेष्टा भट्ट जी में सर्वत्र मिलती है। जहाँ-कहीं अपने जमाने की हीनावस्था और अनाचार पर लेखक ने व्यंग्यात्मक आक्षेप किए हैं वहाँ कटु और विरोधमूलक अक्खड़ी उक्तियों का वेग देखने योग्य हुआ है। भावात्मक स्थलों में पहुँचकर आवेश के साथ तत्समता का आधिक्य हो जाता है, जैसे:—

"अब उधर भी नजर फैलाइए—स्वरूप देखिए मानो साक्षात् लक्ष्मी। मुँह से बोल निकला मानो फूल झर रहा हो। अंग अंग की सजावट कोमलता सलोनापन और सुकुमारता से मन हरे लेती है। चाल-ढाल, रहन-सहन में कुलांगनापन और भलमनसाहत बरस रही है। धन्य है उनका जीवन और महापुण्य भूमि है वह घर जिसे असूर्यंपश्या ऐसी स्त्रियाँ सती सावित्री समान अपने पदन्यास से पवित्र करती हुई दीपक समान प्रकाश कर रही हैं।"

(भट्ट-निबंधमाला, भाग १, पृ० २१)

परिस्थिति अथवा विषय-विशेष के आग्रह की बात छोड़कर साधारणतः भट्ट जी की शैली में बात कहने के ढंग में सीधापन, बल और यथाक्रम उतार-चढ़ाव दिखाई पड़ता है। वाक्यों की सरल योजना, शब्दों के प्रयोग में मिला-जुला रूप और भाव-प्रकाशन में आत्मीयतापूर्ण मैत्रीभाव उनकी मुख्य विशेषताएँ हैं। उनकी शैली में बनावटी रूप कहीं नहीं मिलता। उनके अधिकांश निबंध स्वच्छ, सुसंबद्ध और प्रवाहयुक्त हैं। उनकी प्रतिनिधि भाषाशैलो का स्वरूप इस प्रकार है:—

"मनुष्य के जीवन की शोभा या रौनक चरित्र है। आदमी के लिये यह एक ऐसी दौलत है जिसे अपने पास रखनेवाला कैसी ही हालत में हो समाज के बीच गौरव और प्रतिष्ठा पाता ही है वरन् सबों के समूह में जैसा आदर नेक चलनवाले का होता है वैसा उनका नहीं जो धन और विभव से सब भाँति रँजे-पुँजे और खुशहाल हैं। ऐसे को कोई ऊँचा सन्मान या बड़ी पदवी पाते देख किसी को कभी डाह या ईर्ष्या नहीं होती। धनियों के बीच जैसा उतरा-चढ़ी और परस्पर की स्पर्द्धा रहा करती है उसका शिष्टता के सूत्र में सर्वथा प्रतिबंध है। चरित्रपालन सभ्यता का प्रधान अंग है कौम की सच्ची तरक्की तभी कहलायेगी जब एक आदमी उस जाति या कौम के चरित्र-संपन्न और भलमनसाहत की कसौटी में कसे हुए अपने को प्रगट कर सकते हों।

भले लोगों के चले हुए मार्ग या ढंग पर चलने ही का नाम कानून, व्यवस्था या मोरालिटी है।"

( भट्ट-निबंधमाला, भाग १, पृ० ३२ )

भट्ट जी की रचनाशैली की विवेचना उस समय तक समाप्त नहीं कही जा सकती जब तक पंडित प्रतापनारायण मिश्र का भी उल्लेख न हो जाय। इन दोनों व्यक्तियों ने हिंदी गद्य में एक नवीन योजना उपस्थित की थी। उसका प्रसार इन्हीं लोगों ने भली भाँति किया भी। मिश्र जी भी भट्ट जी की भाँति सिद्ध निबंध-लेखक थे। इन्होंने भी 'बात', 'वृद्ध', 'भौं', 'दाँत', इत्यादि साधारण और व्यावहारिक विषयों पर आत्मीयतापूर्ण विचार किया है। इस प्रकार के विषयों पर लिखने से बड़ा उपकार हुआ। नित्य व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं पर भी कुछ तथ्य-कथन एवं मनोरंजन की बातें कही जा सकती हैं, इसका बड़ा सुंदर और आदर्श रूप इन छोटे-छोटे निबंधों से प्राप्त होता है। उनके इस प्रकार के विषयों पर अधिक लिखने से कुछ लोगों की यह धारणा कि 'उनकी प्रतिभा केवल सुगम साहित्य की रचना में ही आबद्ध रही और उसे अपने समय के साहित्यिक धरातल से ऊँचे उठने का कम अवकाश मिला' नितांत भ्रमात्मक है क्योंकि 'मनोयोग', 'स्वार्थ' ऐसे भावात्मक विषयों पर भी विचारपूर्ण निबंध उन्होंने लिखे थे। यह दूसरी बात है कि इन विषयों पर उन्होंने उतना अधिक न लिखा हो अथवा उतनी मनोवैज्ञानिक छानबीन न की हो जितनी कि भट्ट जी ने की है। जो कुछ उन्होंने लिखा है तात्कालिक वस्तुस्थिति के अनुसार अच्छा ही लिखा है, इसमें कोई संदेह नहीं।

प्रतापनारायण मिश्र
ई० सन् १८५६ – ६४

मिश्र जी की रचना-प्रणाली में एक विशेष चमत्कार मिलता है। संभव है, जिसे लोग 'विदग्ध साहित्य' कहते हैं उसका निर्माण उन्होंने न किया हो, परंतु उनकी लेखनी के साथ साधारण समाज की रुचि अवश्य थी। उनके लेखों में सर्वत्र व्यक्तित्व की छाप लगी मिलती है। जैसा उनका स्वभाव था वैसा ही उनका विषय-निर्वाचन भी था। इसके अतिरिक्त उनकी रचना में आत्मीयता का भाव अधिक मात्रा में रहता था। साधारण विषय को सरल रूप में रखकर वे सुननेवाले का

विश्वास अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। उनके रचनाकाल तक हिंदी पढ़नेवालों के समाज का विकास नहीं हुआ था। उनकी लेखनी के हँसमुख स्वभाव ने एक नवीन पाठक-समूह उत्पन्न किया। उन्होंने भट्ट जी के साथ हाथ मिलाकर एक साधारण और व्यावहारिक साहित्य का आविष्कार कर यह दिखला दिया कि भाषा केवल विचारशील विषयों के प्रतिपादन एवं आलोचन के लिये ही नहीं है, वरन् उसमें नित्य के व्यवहृत विषयों पर भी आकर्षक रूप में विवेचन संभव है।

भट्ट जी के विचारों में इनके विचारों से एक विषय में घोर विभिन्नता थी। भट्ट जी ने भारतेंदु की भाँति नागर साहित्य का निर्माण किया। परंतु ये साधारण जन-समुदाय को नहीं छोड़ना चाहते थे। इस धारणा के कारण इन्हें अपने भाव-प्रकाशन से ढंग में भी परिवर्तन करना पड़ा, दिहाती भाषा एवं मुहावरों को भी अपनी रचना में स्थान देना पड़ा। इन प्रयोगों के कारण कहीं-कहीं पर अशिष्टता और ग्रामीणता भी आ गई है। पर मिश्र जी अपने उद्देश्य की पूर्ति के सामने इसपर कभी ध्यान ही न देते थे। यों तो इनकी भाषा साधारण मुहावरों के बल पर ही चलती थी। इन मुहावरों के प्रयोग से चमत्कार का अच्छा समावेश हुआ है। कहीं-कहीं तो इनकी झड़ी लग गई है। इसका प्रमाण हमें इस अवतरण में भली भाँति मिलता है—"डाकखाने अथवा तारघर के सहारे से बात की बात में चाहे जहाँ की जो बात हो जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है, बात जाती रहती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है। हमारे तुम्हारे भी सभी काम बात ही पर निर्भर हैं। बात ही हाथी पाइए बातहि हाथी पावँ। बात ही से पराए अपने और अपने पराए हो जाते हैं।" भाषा में मुहावरों का प्रयोग करना तो एक ओर रहा, इनके लेखों के शीर्षक तक पूरे-पूरे मुहावरों ही में होते थे; जैसे, 'किस पर्व में किसकी बन आती है', 'मरे का मारै शाह मदार', इत्यादि।

इनकी भाषा का रूप बड़ा अस्थिर था। इनके समय तक भाषा का जितना विकास और परिष्कार हो चुका था उसका भी ये अनुसरण न कर सके। इस विचार से इनकी शैली बहुत पिछड़ी रह

गई। साधारणतः देखने पर इनकी भाषा में पंडिताऊपन और पूरबीपन झलकता है।

ऐकार और औकार की प्रचुरता के साथ-साथ 'लगै', 'आवैगा', 'तौ', 'देखो', 'दिखावै', 'उपजाय', 'शरीर भरे की', 'बात रही,' 'चाय की सहाय से', 'हैं कै जने' ऐसे प्रयोग भी बहुत मिलते हैं। एक ओर 'मट्टी', 'मूरत' ऐसे चलते व्यावहारिक शब्दों का स्वीकृति दिखाई पड़ती है तो साथ ही 'कर्तव्यता,' 'प्राबल्यता', ऐक्यता', 'जात्याभिमान इत्यादि रूप भी, प्रयुक्त हुए हैं। व्याकरण की ओर तो इस काल के कृतिकारों का ध्यान नहीं गया था। यही कारण है कि 'पर वह इस बात को न माने' और 'अपने भूमि में', ऐसे प्रयोग भी यथेष्ट दिखाई पड़ेंगे। साथ ही म्लेच्छ, रिषि, रितु, ग्रहस्त; लेखणी, इत्यादि अशुद्ध तद्भवता का भी प्रवेश कम नहीं है। पूर्वी अथवा प्रादेशिक शब्दों की तो इनकी भाषा में अत्यधिकता थी, जैसे—मुड़ियावै, झपका फुँदनी, भाँप, हथकंडे, रंजापुंजा, काहे, भटे, टिचर, टटुआ, रंच, मुड़धुन, जटल्ला, खौखियाना। यदि कहीं पंडितजी ने बात कहने का गंभीर ढंग बनाया तो वाक्य-योजना में निरर्थक विस्तार घुस पड़ता था; जैसे—'इंद्रियों से कर्म का प्राबल्य होता रहता है।' पता नहीं इनकी लिखी संस्कृत की कविताएँ शुद्धाशुद्ध के विचार से कैसी हैं, पर स्थान स्थान पर प्रयुक्त संस्कृत के उद्धरण तो साधारणतः देखने से अशुद्ध ही दिखाई पड़ते हैं; 'अहं पंडितम् ', 'स्वधर्मो निधनः श्रेयः', 'का चिंता मरणो रणो' में यह बात स्पष्ट हो जाती है। इनकी रचना' में विराम आदि चिह्नों का भी अभाव और अव्यवस्थित प्रयोग मिलता है। इससे भाव-व्यंजना में अव्यवस्था उत्पन्न हो गई है। स्थान-स्थान पर तो भाव भी विक्षिप्त दिखाई पड़ते हैं। पढ़ते-पढ़ते रुकना पढ़ता है और भाव के समझने में बड़ी उलझन उपस्थित हो जाती है। जो विचार, विराम आदि चिह्नों के प्रयोग से पढ़ने में सरल बनाए जा सकते हैं वे भी उनकी अनुपस्थिति के कारण अस्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। मिश्र जी के समय तक इन विषयों की कमी नहीं रह गई थी। भाषाशैली में स्थिरता एवं परिपक्वता आ चली थी। ऐसी अवस्था में भी इनकी भाषा बड़ी अनियंत्रित और पुरानी ही रह गई है। जैसे—"पर केवल इन्हीं के तक में दूसरे को कुछ नहीं, फिर क्यों इनकी निंदा की जाय ?" यह वाक्य बिल्कुल अस्पष्ट है ।

इन न्यूनताओं और त्रुटियों के कारण इनकी भाषा दुर्बल एवं शिथिल रह गई है। परंतु इतना सब होते हुए भी उसमें जो कहने का आकर्षक ढंग है वह बड़ा ही मनोहर ज्ञात होता है; उसमें एक विचित्र बाँकापन मिलता है जो दूसरे लेखकों में नहीं मिलता। इनकी रचना में भट्ट जी की भाँति वैयक्तिक छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। साधारण रूप में यह कहा जा सकता है कि इनकी भाषा में बड़ी रोचकता है। भाषा की व्यावहारिकता तथा प्रतिपादन-पद्धति में मुहावरों का पूर्ण योग मिश्र जी की ऐसी विशेषताएँ थीं जो सर्वत्र मिलती हैं।

"यदि सचमुच हिंदी का प्रचार चाहते हो तो आपस के जितने कागज पत्तर लेखा जोखा टीप तमस्सुक हों सब में नागरी लिखी जाने का उद्योग करो। जिन हिंदुओं के यहाँ मौलवी साहब बिसमिल्लाह कराते हैं उनके पंडितों से अक्षरारंभ कराने का उपकार करो चाहे कोई हँसे चाहे धमकावै जो हो सो हो तुम मनसा वाचा कर्मणा उर्दू की लुलू देने मे संनद्ध हो इधर सरकार से भी झगड़े खुशामद करो दाँत निकालो पेट दिखाओ मेमोरियल भेजो एक बार दुतकारे जाओ फिर धन्ने धरो किसी भाँति हतोत्साह न हो हिम्मत न हारो जो मनसाराम कचियाने लगैं तो यह मंत्र सुना दो...बस फिर देखना पांच सात बरस में फारसी छार सी उड़ जायगी। नहीं तो होता तो परमेश्वर के लिए है हम सदा यही कहा करैंगे "पीसै का चुकरा गावै का छीताहरन" "घूरे के लत्ता बिनै कनातन का डौल बाँधै" हमारी भी कोई सुनैगा? देखें कौन माई का लाल पहले सिर उठाता है?"

इस प्रकार की भाषा का प्रयोग मिश्र जी ने अपनी उन रचनाओं में नहीं किया है जो अधिक विवेचनापूर्ण थीं। विरामादि चिह्नों का तथा वाक्य-योजना का तो वही रूप रहता था पर शब्दावली अन्य प्रकार की हो जाती थी। वाक्यों के अव्यवस्थित विस्तार के कारण भाव-व्यंजना उलझी सी दिखाई पड़ती थी। इतनी बात अवश्य होती थी कि भाषा भाव के अनुकूल होकर संयत और गंभीर बन जाती थी।

"अकस्मात् जहाँ पढ़न लिखने आदि में कष्ट सहते हो वहाँ मन को सुयोग्य बनाने में भी त्रुटि न करो, नो चेत् दिव्य जीवन लाभ करने में अयोग्य रह जाओगे। इससे सब कर्तव्यों की भाँति उपर्युक्त विचार का अभ्यास करते रहना मुख्य कार्य समझो तो थोड़े ही दिनों में मन तुम्हारा मित्र बन जायगा और सर्व काल उत्तम पथ में विचरण करने तथा उत्सा-

हित रहने का उसे स्वभाव पड़ जायगा, तथा दैवयोग से यदि कोई विशेष खेद का कारण उपस्थित होगा जिसे नित्य के अभ्यास उपाय दूर न कर सकें उस दशा में भी इतनी घबराहट तो उपयोगी नहीं जितनी अनभ्यासियों की होती है क्योंकि विचार-शक्ति इतना अवश्य समझा देगी कि सुख-दुःख सदा आया ही जाया करते हैं।"

कहीं-कहीं चमत्कारप्रियता का विचित्र आग्रह भी इनमें दिखाई दे जाता है। ऐसे स्थलों पर बनावटीपन की झलक अच्छी नहीं ज्ञात होती; जैसे—'इसी प्रकार सदैव नारी का विचार और भगवान मदनारी (कामदेव के नाशक शिव) का ध्यान रक्खो, नहीं महा-अनारी हो जाओगे।' अपने सखा 'हिंदी-प्रदीप' को लकार की धुन पकड़कर कुछ लिखते देखकर इन्होंने भी, 'दकार' और 'टकार' तैयार कर दी। इस प्रकार के आग्रहों के बाहर जहाँ किसी विचारपूर्ण विषय की विवेचना करने लगते थे वहाँ भावावेश का अवसर पाकर तत्समता प्रबल हो उठती थी। इस समय के अन्य लेखकों की भाँति मिश्र जी को भी अपने समकालीन विभिन्न मतमतांतरों और सामाजिक-राजनीतिक विचारधाराओं पर यदि कुछ कहना होता था तो बड़ी उग्रता, कर्कशता, दंभ, और उत्साह से विरोध उपस्थित करते थे। तर्क चाहे अकाट्य न हों पर भाषा में तेजी और खिल्ली उड़ाने की प्रवृत्ति अवश्य रहती थी।

**बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'**

भारतेंदु, भट्ट जी तथा मिश्र जी के क्रियाशील उद्योग से हिंदी का गद्य-साहित्य बलिष्ठ हो चला था। उसमें परिपक्वता आ आभास आने लगा था, भिन्न-भिन्न प्रकार के विषयों क दिग्दर्शन होने लगा था। इस समय के गद्य की अवस्था उस पक्षि-शावक के समान थी जो अभी स्फुरणशक्ति का संचय कर रहा हो। इसी समय 'प्रेमघन' जी ने एक नवीन रचना-शैली का निर्माण किया। भाषा में बल आ ही रहा था; इन्होंने उस बलको दिखाना आरंभ किया। भाषा को सानुप्रास बनाने का बीड़ा उठाना, उसमें अलौकिकता उपस्थित करने का प्रयत्न करना, उसको स्वच्छ और दिव्य बनाए रखने की साधना करना 'प्रेमघन' ही का कार्य था। इसका प्रभाव उनकी भाषा पर यह पड़ा कि वह दुरूह और अव्यावहारिक बनने लगी। इस समय तक उन्नति होने पर भी भाषा का इतना अच्छा

परिमार्जन नहीं हुआ था कि उसमें जटिलता और विद्वत्ता दिखाने का प्रयास सफल हो सके। बड़े-बड़े वाक्य लिखना बुरा नहीं, परंतु इनके वाक्यों का प्रस्तार तथा तात्पर्य-बोधन बड़ा दुरूह होता था। कहीं-कहीं तो वाक्यों की दुरूहता एवं लंबाई से जी ऊब उठता है। उनमें से एक प्रकार की रुखाई उत्पन्न हो पड़ती है। उनकी यह वाक्य-विशालता केवल गद्य-काव्यात्मक प्रबंधों में ही नहीं आबद्ध रहती थी वरन् साधारण रचनाओं और भूमिका-लेखन तक में भी दिखाई पड़ती है। जैसे:—

"प्रयाग की बीती युक्तप्रांतीय महाप्रदर्शिनी के सुबृहत् आयोजन और उसके समारंभोत्कर्ष के आख्यान का प्रयोजन नहीं है; क्योंकि वह स्वतः विश्वविख्यात है। उसमें सहृदय दर्शकों के मनोरंजन और कुतूहलवर्धनार्थ जहाँ अन्य अनेक अद्भुत और अनोखी क्रीड़ा, कौतुक और विनोद के सामग्रियों के प्रस्तुत करने का प्रबंध किया गया था, स्थानिक सुप्रसिद्ध घटनाओं का ऐतिहासिक दृश्य दिखाना भी निश्चित हुआ और उसके प्रबंध का भार नाट्यकला में परम प्रवीण प्रयाग युनिवर्सिटी के ला कालेज के प्रिंसिपल श्रीयुत मिस्टर आर० के० सोराबजी, एम० ए०, बैरिस्टर-ऐट् ला को सौंपा गया; जिन्होंने अनेक प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं को छाँट और उन्हें एक रूपक के रूप में ला सुविशाल समारोह के सहित उनकी लीला ( पेजेंट ) दिखाने के अभिप्राय से कथा-प्रबंध-रचना में कुछ भाग का तो स्वयं निर्माण करना एवं कुछ में औरों से सहायता लेनी स्थिर कर उन पर उसका भार अर्पण किया।"

जिस समय बड़हर की रानी का कोर्ट आफ वार्ड्स छूटा था उसका समाचार इन्होंने इस प्रकार की भाषा में प्रकाशित किया :—

"दिव्य देवी श्रीमहारानी बड़हर लाख झंझट झेल और चिर काल पर्यंत बड़े बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल अचल 'कोर्ट' का पहाड़ ढकेल फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी कैसा खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेल पेल और कभी उसी पर सुख की कुलेल है।"

कितनी साधारण सी बात थी परंतु उसका इतना तूल इस प्रकार की रचना में प्रकट किया गया है। यह स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि भाषा हथौड़ा लेकर बड़ी देर तक गढ़ी गई है। लिखनेवाले का अभ्यास बढ़ जाने पर इस प्रकार की अभिव्यंजना में उसे विशेष

अड़चन तो नहीं रह जाती, परंतु उसकी रचना साधारणतः अव्यावहारिक सी हो जाती है। चौधरी जी की भाषा इस विषय में प्रमाण मानी जा सकती है। भारतेंदु की चमत्कार-रहित एवं व्यावहारिक शैली के ठीक विपरीत यह शैली है। इसमें चमत्कार एवं आलंकारिकता का विशेष भाग पाया जाता है। किसी साधारण विषय को भी बढ़ा-चढ़ाकर लिखना इसमें अभीष्ट होता है। इस प्रकार की रचना-शैली कौतुक मात्र बनती है उसमें यथार्थ भाव-बोधन का क्रमागत ह्रास होता चलता है और चलतापन नष्ट हो जाता है।

यों तो प्रेमघन जी की रचना में भी "आन पड़ा", 'कराकर', 'तौ भी' इत्यादि पंडिताऊ रूप मिलते हैं; परंतु भाषा का जितना प्रौढ़ रूप उनमें दिखाई पड़ता है वह स्तुत्य है। उन्होंने भाषा को काव्योचित बनाने में सोद्देश्य चेष्टा की। इसके अतिरिक्त कभी-कभी अवसर पड़ने पर उन्होंने आलोचनात्मक लेख भी लिखे हैं। इन्हीं लेखों को हम आलोचनात्मक विवेचना का एक प्रकार से आरंभ कह सकते हैं। यों तो उन लेखों की भाषा आलोचना की भाषा नहीं होती थी, फिर भी उनमें विषय-विशेष का परिचय प्राप्त होता है।

धीरे-धीरे उर्दू की तत्समता का ह्रास और संस्कृत की तत्समता का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। पंडित बदरीनारायण चौधरी की रचना में उर्दू की संतोषजनक कमी थी परंतु लाला श्रीनिवासदास में उर्दू तत्समता भी अच्छी मिलती है। इस कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि राजा शिवप्रसाद जी की भाँति इनमें उर्दू की प्रबलता थी। अब उर्दू-ढंग की वाक्य-रचना प्रायः लुप्त हो रही थी। उर्दू शब्दों का प्रयोग भी दिन पर दिन घटता जाता था। इसके सिवा लाला जी में हमें दोरंगी दुनिया नहीं दिखाई पड़ती, जैसी पंडित बालकृष्ण भट्ट की रचना में थी। इनकी भाषा संयत, सुबोध और दृढ़ थी। यों तो इनके उपन्यास—परीक्षा-गुरु—और नाटकों की भाषाओं में अंतर है परंतु वह इतना ही है कि जितना केवल विषय-परिवर्तन में प्रायः हो जाता है। नाटकों की भाषा वक्तृता के अनुकूल होती थी और परीक्षा-गुरु की भाषा वर्णनात्मक हुई है। इनमें साधारणतः दिल्ली की प्रांतिकता और पछाहींपन प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। 'इस्की', 'उन्नें', 'उस्की' और 'उस्से' ही नहीं वरन् 'किस्पर', 'इस्तरह', 'तिस्पर' ऐसे प्रयोग भी पाए

श्रीनिवासदास

जाते हैं। इनके अतिरिक्त ये 'तुम्हों' न लिखकर 'तुमहो', यह के लिये 'ये' वह के स्थान पर 'वो' 'ठहर' न लिखकर 'ठैर' आदि अधिक लिखा करते थे। विभक्तियों का प्रयोग भी प्रांतिकता से पूर्ण होता था। जैसे—'सै' (से), 'मैं' (में) इत्यादि। इसके उपरांत 'करै', 'देखे पर भी', 'रहैंगे', 'जाँती', 'तहाँ' (वहाँ), 'सुनैं' इत्यादि ब्रज के रूप भी स्थान-स्थान पर प्राप्त होते हैं। 'व' और 'ब' के उपयोग का तो इन्हें कुछ विचार ही न था। किसी किसी शब्द को भी ये शायद भ्रमवश अशुद्ध ही लिखा करते थे। जैसे 'धैर्य' के लिये धीर्य या 'धीर्य्य' तथा 'शांत' के अर्थ में 'शांति', का प्रयोग। इसके अतिरिक्त व्याकरण संबंधी साधारण भूलों का होना तो उस समय की एक विशेषता थी; जैसे—"पृथ्वीराज (संयोगिता से) प्यारी!... तुमही मेरा वैभव और तुमही मेरे सर्वस्व हो"। ऐसे प्रयोग स्थान-स्थान पर बराबर मिलते हैं। इन सब त्रुटियों के रहते हुए भी भाषा में संयम दिखाई पड़ता है। उसमें एक प्रकार का चलतापन मिलता है। न उछल-कूद रहती है और न भद्दा चमत्कार ही। सीधा-सादा व्यावहारिक रूप ही प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार की भाषा में उच्च विचारों का भी निदर्शन हो सकता है और सामान्य विषयों का भी, जैसे:—

"अब इन वृत्तियों में से जिस वृत्ति के अनुसार मनुष्य करे वह उसी मेल में गिना जाता है। यदि धर्म-प्रवृत्ति प्रबल रही तो वह मनुष्य अच्छा समझा जायगा और निकृष्ट प्रवृत्ति प्रबल रही तो वह मनुष्य नीच गिना जायगा और इस रीति से भले बुरे मनुष्यों की परीक्षा समय पाकर अपने आप हो जायगी, बल्कि अपनी वृत्तियों को पहचानकर मनुष्य अपनी परीक्षा भी आप कर सकेगा। राजपाट, धन-दौलत, विद्या, स्वरूप, वंश-मर्यादा से भले बुरे मनुष्य की परीक्षा नहीं हो सकती।"

"पृथ्वीराज—(प्रीति से संयोगिता की ओर देखकर) मेरे नयनों के तारे, मेरे हिए के हार, मेरे शरीर का चंदन, मेरे प्राणाधार इस समय इस लोकाचार से क्या प्रयोजन है? जैसे परस्पर के मिलाप में मोतियों के हार भी हृदय के भार मालूम होते हैं, इसी तरह ये लोकाचार भी इस समय मेरे व्याकुल हृदय पर कठिन प्रहार हैं। प्यारी! रक्षा करो, अब तक तो तुमारे नयनों की बाण-वर्षा से छिन्नकवच हो मैंने अपने घायल हृदय को सम्हाला पर अब नहीं सम्हाला जाता।"

इस समय के गद्य में साहित्यिक शैली का सुंदर उदाहरण ठाकुर जगमोहनसिंह जी की रचनाओं में प्राप्त होता है। ठाकुर साहब हिंदी-साहित्य के अतिरिक्त संस्कृत एवं अँगरेजी भाषा के भी अच्छे जानकार थे। इसकी छाप उनकी लेखनी से स्पष्ट झलकती है। उनकी

८ जगमोहनसिंह

रचनाओं में न तो पंडित प्रतापनारायण की भाँति विरामादि चिह्नों की अव्यवस्था मिलती है और न लाला श्रीनिवासदास की भाँति मिश्रित भाषा एवं शब्दों के अनियंत्रित रूप ही मिलते हैं। यों तो 'शाली', 'तुम्हें समर्पित है', 'जिसै दूँ', 'हम क्या करैं, 'चाहती हौ' और 'धरे हैं' इत्यादि पूर्वी एवं पंडिताऊ रूप उनमें बहुत मिलते हैं, परंतु फिर भी भाषा का जितना बोधगम्य तथा परिष्कृत स्वरूप हमें इनकी रचनाओं में प्राप्त होता है उतना साधारणतः तत्कालीन सामान्य लेखकों में नहीं मिलता। ठाकुर साहब भी स्थान-स्थान पर ठीक वैसी ही गद्य-काव्यात्मक भाषा का उपयोग करते थे जैसी कि हमें भट्ट जी की रचना में प्राप्त हुई थी। शैली के विचार से इनकी लेखन-प्रणाली अलंकृत ही कही जायगी; परंतु उसमें 'प्रेमघन' की उलझनवाली वाक्य-रचना नहीं रहती। साथ ही यह तत्समतापूर्ण आलंकारिकता ऐसे ही स्थलों पर विशेष रूप में दिखाई पड़ती है जहाँ विषय वर्णनात्मक मिला है। उनकी शैली में तड़क-भड़क न होते हुए भी चमत्कार और अनोखापन है जो केवल उन्हीं की वस्तु कही जा सकती है। उसमें एक व्यक्तित्व-विशेष की झलक पाई जाती है। संस्कृत-ज्ञान का उपयोग उन्होंने अपने शब्द-चयन में किया है। शब्दों की सुंदर सजावट से उनकी भाषा में कांति आ गई है। इस कांति के साथ मधुरता एवं संस्कृति का सामंजस्य है। जैसे:—

"जहाँ के शल्लकी वृक्षों की छाल में हाथी अपना बदन रगड़-रगड़कर खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला क्षीर सब बन के शीतल समीर को सुरभित करता है मंजु वंजुल की लता और नील निचुल के निकुंज जिनके पत्ते ऐसे घने कि सूर्य के किरणों को भी नहीं निकलने देते इस नदी के तट पर शोभित हैं। ऐसे दंडकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला जो नीलोत्पलों की झाड़ियों और मनोहर पहाड़ियों के बीच होकर बहती है, कंकगृद्ध नामक पर्वत से निकलकर अनेक दुर्गम विषम और असम भूमि के ऊपर से, बहुत से तीर्थों और नगरों को अपने पुण्य जल से पावन करती पूर्व समुद्र में गिरती है।"

"लो······वह श्यामलता थी, यह उसी लता मंडप के मेरे मानसरोवर की श्यामा सरोजिनी है, इसका पात्र और कोई नहीं जिसे दूँ। हाँ एक भूल हुई कि श्यामा-स्वप्न एक 'प्रेमपात्र' को अर्पित किया गया। पर यदि तुम ध्यान देकर देखो तो वास्तव में भूल नहीं हुई। हम क्या करें तुम आप चाहती हो कि ढोल पिटै, आदि ही से तुमने गुप्तता की रीति एक भी नहीं निबाही, हमारा दोष नहीं तुम्हीं विचारो मन चाहे तो अपनी 'तहरीर' और 'एकबाल' देख लो दफ्तर के दफ्तर मिसिलबंदी होकर धरे हैं, अपने कहकर बदल जाने की रीति अधिक थी इसलिये 'प्रेमपात्र' को स्वप्न समर्पित कर साक्षी बनाया, अब कैसे बदलोगी।"

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के बाल्यकाल में ही आर्य-समाज के प्रचार ने हिंदी की गद्य-शैली में कई आवश्यक परिवर्तन किए।

आर्य-समाज और स्वामी दयानंद

वास्तव में गद्य के विकास के लिये यह आवश्यक होता है कि उसमें इतना बल आ जाय कि वाद-विवाद का भली भाँति निर्वाह और किसी विषय का प्रतिपादन हो सके। यह उसी समय संभव है जब कि भाषा में विचार अथवा भाव की क्रम-योजना को आद्यंत अविछिन्न बनाए रखने की पूरी क्षमता उत्पन्न हो जाय। वाद-विवाद का ही विशद रूप व्याख्यान है; उसमें वाद-विवाद का मननशील सुसंबद्ध एवं संयत स्वरूप रहता है। किसी विषय की सम्यक् गवेषणा करने के उपरांत बलिष्ट और स्पष्ट भाषा में जो विचार-धारा निःसृत होती है उसी का नाम है व्याख्यान।

आर्य-समाज के तत्कालीन धार्मिक एवं सांस्कृतिक आंदोलन के प्रसार के निमित्त जो व्याख्यानों और वक्तृताओं की धूम मची उससे हिंदी-गद्य को बड़ा प्रोत्साहन मिला। इस धार्मिक आंदोलन के कारण सारे उत्तरी भारत में हिंदी का प्रसार हुआ। इसका कारण यह था कि आर्य-समाज के आदिगुरु स्वामी दयानंद जी ने, स्वयं गुजराती होने पर भी, हिंदी का ही आश्रय लिया था। इस चुनाव का कारण हिंदी की व्यापकता थी। अस्तु, हिंदी के प्रचार के अतिरिक्त जो प्रभाव गद्य-शैली पर पड़ा वह अधिक विचारणीय है। व्याख्यान अथवा वाद-विवाद को प्रभावशाली बनाने के लिये एक ही बात को कई रूप से घुमा-फिराकर कहने की भी आवश्यकता

होती है। सुननेवालों पर इस रीति के तर्काश्रयी भाव-व्यंजन का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। इस प्रकार की शैली का प्रभाव हिंदी गद्य पर भी पड़ा और यही कारण है कि गद्य की साधारण भाषा भी इस प्रकार की हो गई:—

"क्या कोई दिव्यचक्षु इन अक्षरों की गुलाई, पंक्तियों की सुघाई और लेख की सुघड़ाई को अनुत्तम कहेगा ? क्या यही सौम्यता है कि एक सिर आकाश पर और दूसरा सिर पाताल पर छा जाता है ? क्या यही जल्दपना है कि लिखा आलूबुखारा और पढ़ा उल्लू बिचारा, लिखा छन्नू पढ़ने में आया झब्बू। अथवा मैं इस विषय पर इतना जोर इसलिये देता हूँ कि आप लोग सोचें समझें विचारें और अपने नित्य के व्यवहार में प्रयोग में लावें। इससे आपका नैतिक जीवन सुधरेगा, आपमें परोक्ष की अनुभूति होगी और होगी देश तथा समाज की भलाई।"

'क्या यही सौम्यता' है, 'क्या यही जल्दपना है' 'सोचें समझें विचारें', 'व्यवहार में प्रयोग में' 'जीवन सुधरेगा अनुभूति होगी'। इत्यादि प्रयोगों के द्वारा कथन में विशेषाघात डाला गया है। वाक्य-समूह का अंतिम अंश विशेष रूप से विचारणीय है। "और होगी देश तथा समाज की भलाई" में जो वाक्यगत उलट-फेर है उसका आरंभ यहाँ होता है परंतु इसका उपयोग व्यापक रूप में इधर नहीं हुआ। आगे चलकर 'मतवाला'-मंडल के लेखकों—विशेष कर पांडेय बेचनशर्मा 'उग्र' में यह शैली स्फुरित हुई।

इसके अतिरिक्त गद्य-शैली में जो व्यंग-भाषा का रुचिकर रूप दिखाई पड़ता है वह भी इसी धार्मिक आंदोलन का अप्रत्यक्ष परिणाम है। इस आर्य-समाज के प्रतिपादकों को जिस समय भिन्न धर्मावलंबियों से वाद-विवाद करना पड़ता था उस समय ये अपने दिली गुबारों को बड़ी मनोरंजक, आकर्षक तथा व्यंगपूर्ण भाषा में निकालते थे। यही नहीं, वरन् वाद-विवाद एवं वक्तृताओं के सिलसिले में ये लोग "सीधी, तीव्र और लक्कड़तोड़ भाषा" का प्रयोग करते थे। इन सब विशेषताओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से उस समय के गद्य-लेखकों पर पड़ा। बालकृष्ण भट्ट, अंबिकादत्त व्यास प्रभृति लेखकों की रचनाओं में व्याख्यान की भाषा का आभास स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है। इन सब बातों के अतिरिक्त हम यह देखते हैं कि नाटकों में प्रयुक्त कथोपकथन की भाषा का भी आधार यही वाद-विवाद की भाषा

है। उस समय नाटक अधिक लिखे गए और उन नाटकों के कथोपकथन में जिस भाषा-शैली का प्रयोग हुआ वह यही वाद-विवाद की भाषा-शैली है। इस प्रकार यह निश्चित है कि इस समय के धार्मिक आंदोलन का जो रूप समस्त उत्तरी भारत में फैला वह हिंदी-गद्य-शैली की अभिवृद्धि का बड़ा सहायक हुआ। जिस भाषा-शैली को संयत एवं सुघड़ बनाने के लिये सैकड़ों वर्षों की आवश्यकता होती वह इस आंदोलन के उथल-पुथल में अविलंब ही सुधर गई।

इसी समय गद्य-संसार में पंडित गोविंदनारायण मिश्र के समान धुरंधर लेखक प्रादुर्भूत हुए। अभी तक गद्य-साहित्य में प्रचंड पांडित्य का प्रदर्शन किसी की शैली में नहीं हुआ

१॰ गोविंदनारायण मिश्र

था। यों तो पंडित बदरीनारायण चौधरी की भाषा का रूप भी पांडित्यपूर्ण एवं काव्यात्मक था, परंतु उनमें उतनी दीर्घ समासांत पदावली नहीं पाई जाती जितनी कि मिश्र जी की रचना में प्रचुरता से प्राप्त होती है। इनमें अलंकृत अभिव्यंजना इतनी अधिक है कि स्थान-स्थान पर भाव-निदर्शन अरुचिकर एवं अस्पष्ट हो गया है। अस्पष्ट वह इस विचार से हो जाता है कि वाक्य के अंत तक आते-आते पाठक की स्मरण-शक्ति इतनी भाराकुल हो जाती है कि उसे पूर्व वाक्यांशों अथवा वाक्यों के संबंधासंबंध तक का ध्यान नहीं रह जाता। इस प्रकार की रचना केवल दर्शनीय और पठनीय ही होती है, बोधगम्य नहीं। भाषा के व्यावहारिक गुण भी इसमें नहीं मिल सकते; क्योंकि इसमें न तो भावों का विनिमय सरलता से हो सकता है और न भाषा बोधगम्य ही होती है। संसार का कोई भी प्राणी इस प्रकार की भाषा में विचारों का आदान-प्रदान नहीं करता। स्वतः लेखक को घंटों लग जाते हैं परंतु फिर भी वाक्यों का निर्माण नहीं हो पाता। यह बात दूसरी है कि इस प्रकार का लेखक लिखते-लिखते इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उसे इस विधि-विशेष की वाक्य-रचना में कुशलता प्राप्त हो जाती है। परंतु इस रचना को न तो हम गद्य-काव्य ही कह सकते हैं और न कथन का चामत्कारिक ढंग ही। यह तो भाषा की वास्तविक परिभाषा से कोसों दूर पड़ जाता है। भाषा की उद्बोधन-शक्ति एवं उसके व्यावहारिक प्रचलन का इसमें पता ही नहीं लगता। इस प्रकार की रचना का यदि एक ही वाक्य-समूह पढ़ा

जाय तो संभव है कि उसकी बाह्य आकृति पांडित्यपूर्ण और सरस ज्ञात हो, परंतु जिस समय उसके भावों के समझने का प्रयत्न किया जायगा उस समय मस्तिष्क के ऊपर इतना बोझ पड़ेगा कि थोड़े ही समय में वह थककर बैठ जायगा। परमात्मा की सदिच्छा थी कि इस प्रकार के पांडित्य-प्रदर्शन एवं वाग्जाल की ओर लेखकों की प्रवृत्ति नहीं झुकी, अन्यथा भाषा का व्यावहारिक तथा बोधगम्य रूप तो नष्ट हो ही जाता, साथ ही साहित्य के विकास पर भी धक्का लगता। इस प्रकार की भावना अथवा रुचि का विनाश भी स्वाभाविक ही था; क्योंकि वास्तव में जिस वस्तु का आधार सत्य पर आश्रित नहीं रहता उसका विकास हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि मिश्र जी की शैली का आगे विकास नहीं हो सका। मिश्र जी की रचना की एक झलक यहाँ उपस्थित की जाती है:—

"जिस सुजन समाज में सहस्रों का समागम बन जाता है जहाँ पठित कोविद, कूर, सुरसिक, अरसिक, सब श्रेणी के मनुष्य मात्र का समावेश है, वहाँ जिस समय सुकवि, सुपंडितों के मस्तिष्क सोते के अदृश्य प्रवाह-मय प्रगल्भ-प्रतिभा-स्रोत से समुत्पन्न कल्पना-कलित अभिनव भाव माधुरी भरी छलकती अति मधुर रसीली स्रोतस्वती उस हंसवाहिनी हिंदी सरस्वती की कवि की सुवर्ण विन्यास समुत्सुक सरस रसना रूपी सुचमत्कारी उत्स ( झरने ) से कलरव कल कलित अति सुललित प्रवल प्रवाह सा उमड़ा चला आता, मर्मज्ञ-रसिकों को श्रवणपुटरंध्र की राह मन तक पहुँच सुधा से सरस अनुपम काव्यरस चखाता है, उस समय उपस्थित श्रोता मात्र यद्यपि छंद-बंद से स्वच्छंद समुच्चारित शब्द-लहरी प्रवाह-पुंज का सम भाव से श्रवण करते हैं परंतु उसका चमत्कार आनंद रसास्वादन सबको स्वभाव से नहीं होता। जिसमें जितनी योग्यता है जो जितना मर्मज्ञ है और रसज्ञ है शिक्षा से सुसंस्कृत जिसका मन जितना अधिक सर्वांगसुंदरतासंपन्न है, जिसमें जैसी धारणाशक्ति और बुद्धि है वह तदनुसार ही उससे सारांश ग्रहण तथा रस का आस्वादन भी करता है। अपने मन की स्वच्छता, योग्यता और संपन्नता के अनुरूप ही उस चमत्कारी अपरूप रूप का चमकीला प्रतिबिंब भी उसके मन पर पड़ता है। परम वदान्य मान्यवर कवि कोविद तो सुधा-वारिद से सब पर सम भाव से खुले जी खुले हाथों सुरस बरसाते हैं, परंतु सुरसिक समाज पुष्पवाटिका किसी प्रांत में पतित ऊसर समान मूसरचंद मंदमति मूर्ख और

अरसिकों के मन मरुस्थल पर भाग्यवश सुसंसर्ग प्रताप से निपतित उन सुधा से सरस बूँदों के भी अंतरिक्ष में ही स्वाभाविक विलीन हो जाने से बिचारे उस नवेली नव रस से भरी बरसात में भी उत्तप्त प्यासे और जैसे थे वैसे ही शुष्क नीरस पड़े धूल उड़ाते हैं। कवि कोविदों की कोमल कल्पना कलिता कमनीय कांति की छाया उनके वैसे प्रगाढ़ तमाच्छन्न मलिन मन पर कैसे पड़ सकती है ?"

एक अँगरेजी भाषा के आलोचक ने डाक्टर जानसन की गद्य-शैली का विवेचन करते हुए लिखा है कि उसमें ऐसी भयंकरता मिलती है मानो मांस के लोथड़े बरस रहे हों। मेरा ठीक यही विचार मिश्र जी की शैली के संबंध में है। इनकी शैली में वाक्यों की लंबी दौड़ और तत्सम शब्दों के व्यवहार की बुरी लत के अतिरिक्त इतनी विचित्रता है कि भयंकरता आ जाती है। उपसर्गों के अनुकूल प्रयोग से शब्दार्थों में विशिष्ट व्यंजना प्रकट होती है परंतु जब वह व्यर्थ का आडंबर बना लिया जाता है तब एक विचित्र भद्दापन प्रकट होने लगता है। जैसे 'पंडित', 'रस' और 'ललित' के साथ 'सु', 'तुल्य' और 'उच्चरित' के साथ 'सम्' लगाकर अजनबी जानवर तैयार करने से भाषा में अस्वाभाविकता और अव्यावहारिकता बढ़ने के अतिरिक्त और कोई भलाई नहीं उत्पन्न होती। इस संस्कृत की तत्सम शब्दावली तथा समासांत पदावली के बीच बीच में तद्भव शब्दों का प्रयोग करना मिश्र जी को बड़ा प्रिय लगता था। परंतु तत्समता के प्रकांड तांडव में बेचारे 'राह', 'पहुँच', 'बरसात', 'मूसरचंद', 'बूँद', आदि शब्दों की दुर्गति हो रही है। मिश्र जी सदैव 'सुचा देना', 'अनेकों बेर', और 'यह ही' का प्रयोग करते थे। विभक्तियों को ये केवल शब्दों के साथ मिलाकर लिखते ही भर न थे प्रत्युत उनका प्रयोग आवश्यकता से अधिक करते थे। इस कारण उनकी रचना का प्रवाह शिथिल पड़ जाता है। 'भाषा की प्रकृति के बदलने में' अथवा 'किसी प्रकार की हानि का होना संभव नहीं था' में यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ती है। 'भाषा की प्रकृति बदलने में' अथवा 'किसी प्रकार की हानि होना संभव नहीं था' लिखना कुछ बुरा न होता। "तत्व निर्णय का होना असंभव समझिए" में यदि 'का' विभक्ति 'तत्व' के साथ लगा दी जाय तो भाव अधिक बोधगम्य हो जायगा।

इस भाँति हम देखते हैं कि मिश्र जी की भाषा चाहे आनुप्रासिक होने के कारण श्रुतिमधुर भले ही लगे परंतु वास्तव में बड़ी अव्यावहारिक एवं बनावटी है। उनके एक-एक वाक्य निहाई पर रखकर हथौड़े से गढ़े गए जान पड़ते हैं। इस गद्य-काव्यात्मक कही जानेवाली भाषा के अतिरिक्त मिश्र जी अपने विचार से जो साधारण भाषा लिखते थे वह भी उसी ढंग की होती थी। उसमें भी व्यावहारिकता की मात्रा न्यून ही रहती थी, उत्कृष्ट शब्दावली का प्रयोग और तद्भवता का प्रायः लोप दिखाई देता है। भाव-व्यंजना में भी सरलता नहीं रहती थी। जब वे साधारण वाद-विवाद के आलोचनात्मक विषय पर लिखते थे उस समय भी उनकी भाषा और शैली उसी गढ़ंत प्रकार की होती थी। उनकी साधारण विचार-विवेचना के लिये भी काव्यात्मक भाषा ही आवश्यक रहती थी। जैसे :—

"साहित्य का परम सुंदर लेख लिखनेवाला यदि व्याकरण में पूर्ण अभिज्ञ न होगा तो उससे व्याकरण की अनेकों अशुद्धियाँ अवश्य होंगी। वैसे ही उत्तम वैयाकरण व्याकरण से विशुद्ध लेख लिखने पर भी अलंकार-शास्त्रों के दूषणों से अपना पीछा नहीं छोड़ा सकता है। अलंकार-भूषित साहित्य-रचना की शैली स्वतंत्र है। इसकी अभिज्ञता उपार्जन करने के शास्त्र भिन्न हैं जिनके परमोत्तम विचार में व्याकरण का अशुद्धि-विशिष्ट लेख भी साहित्य में सर्वोत्तम माना जाता है। सारांश यह कि अत्यंत सुविशाल शब्दारण्य के अनेकों विभाग वर्तमान हैं, उसमें एक विषय की योग्यता वा पांडित्य के लाभ करने से ही कभी कोई व्यक्ति सब विषयों में अभिज्ञ नहीं हो सकता है। परंतु अभागी हिंदी के भाग्य में इस विषय का विचार ही मानो विधाता ने नहीं लिखा है। जिन महाशयों ने समाचारपत्रों में स्वनामांकित लेखों का मुद्रित कराना कर्तव्य समझा और जिनके बहुत से लेख प्रकाशित हो चुके हैं, सर्व साधारण में इस समय वे सब के सब हिंदी के भाग्य विधाता और सब विषयों के ही सुपंडित माने जाते हैं। मैं इस भेड़ियाधसान को हिंदी की उन्नति के विषय में सबसे बढ़कर बाधक और भविष्य में विशेष अनिष्टोत्पादक समझता हूँ। अनधिकार चर्चा करनेवाले से बात बात में भ्रम प्रमाद संघटित होते हैं। नामी लेखकों के भ्रम से अशिक्षित समुदाय की ज्ञानोन्नति की राह में विशेष प्रतिबाधक पड़ जाते हैं। यह ही कारण है कि तत्वदर्शी विज्ञ पुरुष अपने भ्रम का परिज्ञान होते ही

उसे प्रकाशित कर सर्व साधारण का परमोपकार करने में क्षणमात्र भी विलंब नहीं करते, बल्कि बिलंब करने को महापाप समझते हैं।"

यह मिश्र जी की आलोचनात्मक भाषा का उदाहरण है। इसमें दीर्घ पदावली, गुणवाची शब्दों एवं उपसर्गों की उतनी भरमार नहीं है। यों तो इसमें भी उन्होंने किसी बात को साधारण ढंग से न कहकर अपने द्राविड़ी प्राणायाम का ही अवलंबन किया है। "अपने लेख छपाए" के स्थान पर "समाचारपत्रों में स्वनामांकित लेखों का मुद्रित कराना अपना कर्तव्य समझा" लिखना ही वे उचित समझते थे। किसी विषय को साधारण रूप में कहना उन्हें बिलकुल अच्छा न लगता था। ज्ञान के पहले 'परि', बाधक के पूर्व 'प्रति' जोड़े बिना उनका मन नहीं मानता था; बिना दो-दो, तीन-तीन शब्दों को संधि से जोड़े उनका काम ही नहीं चलता था। नित्य की बोलचाल में वे असाधारण शब्दावली का प्रयोग करते थे। मैं तो जब उनसे मिलता और बात-चीत करने का अवसर पाता तो सदैव उनकी बातें सचेष्ट होकर सुनता था क्योंकि मुझे इस बात का भय लगा रहता था कि कहीं कुछ समझने में भूलकर असंबद्ध-सा उत्तर न दे बैठूँ। अस्तु, भाषा की दुरूहता तथा विचित्रता को एक ओर रखकर हमें यह मानने में कोई विवाद नहीं है कि मिश्र जी ने व्याकरण संबंधी नियमन में बड़ा उद्योग किया था। यही तो समय था जब लोगों का ध्यान व्याकरण के औचित्य की ओर खिंच रहा था और अपनी भाषा संबंधी त्रुटियों पर विचार करना आरंभ हो रहा था। इन्होंने विभक्तियों को शब्दों के साथ मिलाकर लिखने का प्रतिपादन किया और स्वयं उसी प्रणाली का अनुसरण किया।

शैली के विचार से मिश्र जी के ठीक प्रतिकूल बाबू बालमुकुंद गुप्त थे। एक ने अपने प्रखर पांडित्य का आभास अपनी समासांत पदावली और संस्कृत की प्रकांड तत्समता में झलकाया, दूसरे ने साधारण चलते उर्दू के शब्दों को संस्कृत के व्यावहारिक तत्सम तथा तद्भव शब्दों के साथ मिलाकर अपनी उर्दूदानी की गजब बहार दिखाई। एक ने अपने वाक्यविस्तार का प्रकांड तांडव दिखाकर मस्तिष्क को मथ डाला, दूसरे ने चुभते हुए छोटे-छोटे वाक्यों में अजब रोशनी घुमाई। एक ने अपने द्रविड़-प्राणायामी

११ बालमुकुंद गुप्त

श्री बालमुकुन्द गुप्त

विधान से लोगों को व्यस्त कर दिया, दूसरे ने रचनाप्रणाली द्वारा अखबारी दुनिया में वह मुहावरेदानी दिखाई कि पढ़नेवालों के उभड़ते हुए दिलों में तूफानी गुदगुदी पैदा हो गई। एक को सुनकर लोगों ने कहना शुरू किया "बस करो! बस करो।" दूसरे को सुनते ही "क्या खूब! भाई जीते रहो!! शाबाश!!!" की आवाजें आने लगीं। इसका कारण केवल एक था, वह यह कि एक तो अपने को संसार से परे रखकर केवल एक शब्दमय जगत् की रचना करना चाहता था और दूसरा वास्तविक संसार के हृदय से हृदय मिलाकर व्यावहारिकता का आभास देना चाहता था।

गुप्त जी कई वर्षों तक उर्दू समाचारपत्र का संपादन कर चुके थे। वे उर्दू भाषा के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने भाषा को रुचि-पूर्ण बनाना भली भाँति सीख लिया था। मुहावरों का सुंदर और उपयुक्त प्रयोग वे अच्छी तरह जानते थे। नित्य समाचारपत्र की चलती भाषा लिखते-लिखते इन्हें इस विषय में अभ्यासगत ज्ञान प्राप्त हो गया था कि छोटे-छोटे वाक्यों में किस प्रकार भावों का निदर्शन हो सकता है; बीच-बीच में मुहावरों के उपयुक्त प्रयोग से भाषा में किस प्रकार जान डालनी होती है यह भी वे भली भाँति जानते थे। यों तो उनकी रचना में स्थान-स्थान पर उर्दू की अभिज्ञता की झलक स्पष्ट पाई जाती है, पर वह किसी प्रकार आपत्तिजनक नहीं है; क्योंकि पहले तो ऐसे प्रयोग कम हैं, दूसरे उनका प्रयोग बड़े सुंदर रूप में हुआ है। इनके वाक्य छोटे होने पर भी संगत और दृढ़ होते थे। उनमें विचारों का निराकरण बड़ा स्पष्ट और बोधगम्य होता था। इन्हीं का सहारा लेकर गुप्त जी सुंदर चित्रों का मनोहर रूप अंकित करते थे। जैसे:—

"शर्मा जी महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिल बट्टे से भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च मसाला साफ हो रहा था। बादाम इलायची के छिलके उतारे जाते थे। नागपुरी नारंगियाँ छील छीलकर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबीअत भुरभुरा उठी। इधर घटा, बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं, अँधेरा छाया, बूँदें गिरने लगीं। साथ ही तड़तड़ धड़धड़ होने लगा, देखो ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई। बूटी तैयार हुई, बम भोला कह शर्मा जी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बड़े लाट मिंटो ने बंग देश के भूतपूर्व छोटे लाट

उडवर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशंभु के बरामदे के छत पर बूँदें गिरती थीं और लार्ड मिंटो के सिर या छाते पर।"

"चिंता-स्रोत दूसरी ओर फिरा। विचार आया कि काल अनंत है। जो बात इस समय है वह सदा न रहेगी। इससे एक समय अच्छा भी आ सकता है। जो बात आज आठ आठ आँसू रुलाती है वही किसी दिन बड़ा आनंद उत्पन्न कर सकती है। एक दिन ऐसी ही काली रात थी। इससे भी घोर अँधेरी भादों कृष्ण अष्टमी की अर्धरात्रि, चारों ओर घोर अंधकार-वर्षा होती थी बिजली कौंदती थी घन गरजते थे। यमुना उत्ताल तरंगों में बह रही थी। ऐसे समय में एक दृढ़ पुरुष एक सद्यजात शिशु को गोद में लिए मथुरा के कारागार से निकल रहा था—वह और कोई नहीं थे यदुबंशी महाराज वसुदेव थे और नवजात शिशु कृष्ण। वही बालक आगे कृष्ण हुआ, ब्रजप्यारा हुआ, उस समय की राजनीति का अधिष्ठाता हुआ। जिधर वह हुआ उधर विजय हुई। जिसके विरुद्ध हुआ पराजय हुई। वही हिंदुओं का सर्वप्रधान अवतार हुआ और शिवशंभु शर्मा का इष्टदेव। वह कारागार हिंदुओं के लिये तीर्थ हुआ।"

इन अवतरणों से इनकी भाषा-शैली का पता लग जाता है। अपने विषय को किस प्रकार गुप्त जी छोटे-छोटे परंतु शक्तिशाली वाक्यों में प्रकट करते थे। प्रथम अवतरण इतिवृत्त एवं वर्णन प्रधान है। छोटे से छोटे वाक्यों का उपयोग हुआ है। कितनी सरल भाषा है। एक वाक्य दूसरे से ऐसा मिला हुआ लिखा गया है कि पाठक स्वयमेव एक से दूसरे और दूसरे से तीसरे पर सरकता चल सकता है। वाक्य-योजना की धारा अटूट रूप में चल रही है। कथन का क्रम इतना सुसंबद्ध है कि आप से आप दृश्य अपनी झलक दिखा-दिखा कर हटते जा रहे हैं और एक पूरा समा बँध जाता है। व्याव-हारिक भाषा का यह सुंदर तथा आदर्श उद्धरण है। दूसरा अवतरण भी इसी प्रकार का है। वाक्य-विन्यास के जोड़-तोड़ के साथ स्थान-स्थान पर एक बात दुहरा दी गई है। इससे भाव-व्यंजना में दृढ़ता और बल की विशेषता आ गई है। "जिधर वह हुआ उधर विजय हुई। जिसके विरुद्ध हुआ पराजय हुई।" यहाँ केवल एक ही वाक्य से अभीष्ट अर्थ की पूर्ति हो सकती थी, पर उस अवस्था में उसमें इतना बल संचारित न होता जितना वर्तमान रूप में है। इनकी

भाषा का प्रभाव देखकर तो स्पष्ट कहना पड़ता है कि यदि गुप्त जी नाटक लिखते तो भाषा के विचार से अवश्य ही सफल रहते। कथन-प्रणाली का ढंग वार्तिक है। इसके अतिरिक्त भाषा में बड़ा परिमार्जन पाया जाता है। शैली बड़ी ही चलती और व्यावहारिक है। कहीं भी हमें ऊबड़-खाबड़ नहीं मिलता। वाक्यों का उतार-चढ़ाव बिलकुल सरल एवं अनुकूल है। वास्तव में गुप्त जी की भाषा प्रौढ़ रूप की प्रतिनिधि है। उच्च विचारों को इस प्रकार छोटे-छोटे वाक्यों में और इतनी सरलता से व्यक्त करना टेढ़ी खीर है।

गुप्त जी आलोचक भी अच्छे थे। भाषा पर अच्छा अधिकार रहने से उनकी आलोचना में भी चमत्कार रहता था। किस बात को किस ढंग से कहना चाहिए इसका विचार वे सदैव रखते थे। साथ ही कथन-प्रणाली रूखी न हो इस विचार से बीच-बीच में व्यंग्य के साथ वे विनोद की मात्रा भी पूर्ण रूप में रखते जाते थे। इस प्रकार के लेखों में वे पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति भाषा का खिचड़ी रूप ही प्रयोग में लाते थे; क्योंकि वे भी समझते थे कि इस प्रकार उनका लेख साधारणतः अधिक व्यापक एवं व्यावहारिक हो सकेगा। जैसे:—

"सरकार ने भी कवि-वचन-सुधा की सौ कापियाँ खरीदी थीं। जब उक्त पत्र पाक्षिक होकर राजनीति संबंधी और दूसरे लेख स्वाधीन भाव से लिखने लगा तो बड़ा आंदोलन मचा, यद्यपि हाकिमों में बाबू हरिश्चंद्र की बड़ी प्रतिष्ठा थी, वह आनरेरी मैजिस्ट्रेट नियुक्त किए गए थे तथापि वह निडर होकर लिखते रहे और सर्व साधारण में उनके पत्र का आदर होने लगा। यद्यपि हिंदी भाषा के प्रेमी उस समय बहुत कम थे तो भी हरिश्चंद्र के ललित ललित लेखों ने लोगों के जी में ऐसी जगह कर ली थी कि कवि-वचन-सुधा के हर नंबर के लिये लोगों को टकटकी लगाए रहना पड़ता था। जो लोग राजनीतिक दृष्टि से उसे अपने विरुद्ध समझते थे वह भी प्रशंसा करते थे। दुःख की बात है कि बहुत जल्द कुछ चुगलखोर लोगों की दृष्टि उस पर पड़ी। उन्होंने कवि-वचन-सुधा के कई लेखों को राजद्रोहपूरित बताया, दिल्लगी की बातों को भी वह निंदासूचक बताने लगे। मरसिया नामक एक लेख उक्त पत्र में छपा था, यार लोगों ने छोटे लाट सर विलियम म्योर को समझाया कि यह आप ही की खबर ली गई है। सरकारी सहायता बंद हो गई। शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर कैंपसन साहब ने बिगड़कर एक

चिट्ठी लिखी। हरिश्चंद्रजी ने उत्तर देकर बहुत कुछ समझाया बुझाया। पर वहाँ यार लोगों ने जो रंग चढ़ा दिया था वह न उतरा। यहाँ तक कि बाबू हरिश्चंद्र जी की चलाई "हरिश्चद्र-चंद्रिका" और "बालाबोधिनी" नामक दो मासिक पत्रिकाओं की सौ-सौ कापियाँ प्रांतीय गवर्नमेंट लेती थी वह भी बंद हो गई।"

उपर्युक्त उद्धरण में कथन के सरलतम रूप, वैयक्तिद् अभिरुचि का अव्यक्त प्रतिपादन, भाषा का अत्यंत व्यावहारिक प्रयोग तथा मुहावरों का सुंदर उपयोग विशेष रूप से विचारणीय है। 'जी में करना', 'टकटकी लगाए रहना', दृष्टि पड़ना', 'खबर लेना', 'रंग चढ़ाना', इत्यादि नित्य व्यवहार में आनेवाले मुहावरे इतने छोटे से अवतरण में आए हैं। भाषा की सरलता और व्यावहारिकता के साथ इन मुहावरों के उचित प्रयोग के कारण शैली में एक निर्मलता और परिष्कार दिखाई पड़ता है। अभिव्यंजना की ऐसी प्रणाली हृदय और बुद्धि के अधिक समीप तक पहुँचती है।

प्रत्येक विषय के इतिहास में जो एक सामान्य बात दिखाई पड़ती है वह यह है कि काल-विशेष में उसके भीतर एक ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है जब कि अकस्मात् कुछ ऐसे कारण उपस्थित हो जाते हैं जिनसे प्रवहमान धारा में सहसा परिवर्तन होना आवश्यक हो जाता है। ये कारण वस्तुतः कुछ दिनों से उपस्थित रहते हैं, परंतु अवसर-विशेष पर ही उनसे प्रेरित किसी घटना का विस्फोट होता है। यही नियम साहित्य के इतिहास में भी घटित होता है। उसमें भी किसी विशेष समय पर कई कारणों के आकस्मिक संघर्ष से विशेष उलट-फेर हो जाता है। हिंदी गद्य के धारावाहिक इतिहास में सन् १९०० ई० वास्तव में इसी प्रकार का समय-विशेष था। यों तो लेखन-कला के प्रसार का आरंभ बहुत समय पूर्व ही हो चुका था, और अब तक कितने ही प्रतिभाशाली लेखक उत्पन्न हो चुके थे जो अपनी रचनाओं की विशेषता की छाप हिंदी-साहित्य पर लगा चुके थे; परंतु सन् १९०० में न्यायालयों में हिंदी का प्रवेश, काशी की नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा सरकार की सहायता से हिंदी की हस्तलिखित पुस्तकों की खोज और प्रयाग में 'सरस्वती' ऐसी सर्वांगीण सुंदर पत्रिका का प्रकाशन एक साथ ही आरंभ हुआ। गद्य की व्यापकता का क्रमिक

सन् १९०० ई०

विकास होते देखकर प्रयत्नशील लेखकों के हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि अब भाषा की व्यवस्था आवश्यक है।

अभी तक तो गद्य की रचना का कोई संशुद्ध स्वरूप स्थिर नहीं हुआ था। लोगों का ध्यान केवल इसी ओर था कि विविध प्रकार के भावों को व्यंजित करने की शक्ति भाषा में उत्पन्न हो। पहले उसका कोई रूप स्थिर हो तब उसका विहित रूप से नियंत्रण हो। यही कारण है कि उस समय के प्रधान लेखकों में प्रायः व्याकरण की अवहेलना पाई जाती है। गुण-वाचक 'शांत' को 'शांति' भाववाचक संज्ञा, और 'नाना देश में', 'श्यामताई', 'जात्याभिमान', 'उपरोक्त', 'इच्छा किया', 'आशा किया' आदि प्रयोग भाषा व्याकरण की अवहेलना के स्पष्ट परिचायक हैं। इस प्रकार की त्रुटियाँ कुछ तो प्रमादवश हुई हैं और कुछ व्याकरण की अज्ञानता के कारण। इसके अतिरिक्त विरामादिक चिह्नों के प्रयोग के विषय में भी इस समय के लेखक विचारहीन थे। प्रत्येक लंबे वाक्य के वाक्यांशों के बीच कुछ चिह्नों की आवश्यकता अवश्य पड़ती है, क्योंकि इनकी सहायता से हमें यह शीघ्र ही ज्ञात हो जाता है कि एक वाक्यांश का संबंध दूसरे वाक्यांश के साथ किस प्रकार का है और उसका साधारण स्थान क्या है। इन चिह्नों के अभाव में सदैव इस बात की आशंका बनो रहेगी कि वाक्य का वस्तुतः अभीष्ट अर्थ क्या है। साथ ही ऐसे अवसर उपस्थित हो सकते हैं कि उनका साधारण अर्थ ही समझना कठिन हो जाय। यदि व्याकरण के इस अंग पर ध्यान दिया जाता तो संभव है कि पंडित प्रतापनारायण मिश्र की शैली अधिक व्यवस्थित तथा स्पष्ट होती। मिश्र जो इन चिह्नों का केवल कहीं-कहीं प्रयोग करते थे। इन चिह्नों के संगतिपूर्ण संस्थापन एवं व्यवहार के अभाव के कारण उनकी भाषा-शैली की व्यावहारिकता एवं बोधगम्यता नष्ट हो गई है। इसके अतिरिक्त तत्कालीन भाषा-शैली में कहीं पछाहींपन कहीं पूर्वीपन और कहीं पंडिताऊ प्रयोग दिखाई पड़ते थे। इस कारण भाषा-प्रयोग में न तो एकरूपता दिखाई पड़ती थी और न संस्कृत-स्वरूपता। इस समय तक की रचनाओं को देखने से ज्ञात होता है कि परिमार्जन की अत्यंत आवश्यकता थी। अनेकानेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही थीं जिसके कारण भाषा और साहित्य की व्यापकता निरंतर वृद्धि पा रही थी।

अतएव भाषा संबंधी नियमन इसलिये वांछनीय था कि साहित्य क्षेत्र में नवागत लेखकों की शैली संबंधो दुर्बलताएँ दूर हों और व्यवस्थित प्रणाल का अनुसरण ही विहित माना जा सके।

गद्य के इस वर्तमान काल में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का स्थान बड़े महत्त्व का है। पूर्व काल में भाषा अथवा व्याकरण-संबंधी जो शिथिलता एवं दुर्बलता थी उसका परिहार द्विवेदी जी के मत्थे पड़ा। अभी तक जो जैसा चाहता था, लिखता रहा। कोई उसकी आलोचना करनेवाला न था। अतएव इन लेखकों की दृष्टि भी अपनी त्रुटियों की ओर नहीं गई थी। द्विवेदी जी ऐसे जागरूक लेखक इसकी अवहेलना न कर सके। अतएव इन्होंने उन लेखकों की रचना-शैली की आलोचना आरंभ की जो व्याकरणगत दोषों का विचार अपनी रचनाओं में नहीं करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि लोग सँभलने लगे और लेखादि विचारपूर्वक लिखे जाने लगे। उन साधारण दुर्बलताओं का क्रमशः नाश होने लगा जिनका हरिश्चंद्र - काल में प्राबल्य था। व्यवस्थापूर्वक लिखने से विरामादिक चिह्नों का प्रयोग विहित रूप में होने लगा, साधारणतः लेख सुस्पष्ट और शुद्ध होने लगे। इसके अतिरिक्त इन्होंने गद्य-शैली के विकास के विचार से भी स्तुत्य कार्य किया। इस समय तक विभिन्न विषयों की शैलियाँ निश्चित नहीं हुई थीं। यों तो भाषा भाव के अनुकूल स्वभावतः हुआ ही करती है, परंतु आदर्श के लिये निश्चित स्वरूप उपस्थित करना आवश्यक होता है। यह कार्य द्विवेदी जी ने किया।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

शब्दावली की विशुद्धता के विचार से द्विवेदी जी उदार विचार के कहे जायँगे। अपने भाव-प्रकाशन में यदि केवल दूसरी भाषा के शब्दों के प्रयोग से ही विशेष बल के आने की सभावना हो तो उचित है कि वे शब्द अवश्य व्यवहार में लाए जायँ। द्विवेदी जी साधारणतः हिंदी, उर्दू, अँगरेजी आदि सभी भाषाओं के शब्दों का व्यवहार करते तो थे, परंतु स्थान की उपयुक्तता का विचार रखते थे। इसके अतिरिक्त उनका शब्द - संग्रह भावानुकूल और व्यवस्थित होता था। प्रत्येक शब्द शुद्ध रूप में लिखा जाता था और ठीक उसी अर्थ में जो अर्थ अपेक्षित होता है। उनकी वाक्य-

आचार्य पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी

रचना भी सीधी और हिंदी की प्रकृति के अनुरूप होती थी। उसमें कहीं भी उर्दू ढंग का विन्यास न मिलेगा। शब्दों के अच्छे उपयोग और गठन से सभी वाक्य दृढ़ एवं भाव-प्रदर्शन में स्पष्ट होते थे। छोटे-छोटे वाक्यों में बल तथा चमत्कार लाते हुए गूढ़ विषयों तक की स्पष्ट अभिव्यंजना द्विवेदी जी के बाएँ हाथ का खेल था। उनके वाक्यों में ऐसी उठान और प्रगति दिखाई पड़ती थी जिससे भाषा में वही बल प्राप्त होता था जो अभिभाषण में। पढ़ते समय एक प्रकार का प्रवाह दिखाई पड़ता था। उनके वाक्यों में शब्द भी इस प्रकार बैठाए जाते थे कि यह स्पष्ट प्रकट हो जाता था कि वाक्य के किस शब्द पर कितना बल देना उपयुक्त होगा; और वाक्य को किस प्रकार पढ़ने से उस भाव की व्यंजना होगी जो लेखक को अभिप्रेत है।

द्विवेदी जी के पूर्व के लेखकों को जब हम वाक्य-रचना एवं व्याकरण में अपरिपक्व पाते हैं तब उनमें वाक्य-सामंजस्य खोजना अथवा वाक्य-समूह का विभाजन तथा विन्यास देखना व्यर्थ ही है। एक विषय की विवेचना करते हुए उसके किसी अंग का विधान कुछ वाक्य-समूहों में और उस अंग के किसी एक अंश का विधान एक स्वतंत्र वाक्य-समूह में सम्यक् रूप से करना तथा इस विवेचन-परंपरा का दूसरे वाक्य-समूह की विवेचन-परंपरा के साथ सामंजस्य स्थापित करना द्विवेदी जी ने आरंभ किया। इस विचार से उनकी भाषा-शैली में अच्छा उतार-चढ़ाव दिखाई पड़ता था। इसके साथ हम यह भी देखते हैं कि उनकी रचना में स्थान-स्थान पर एक ही बात भिन्न-भिन्न शब्दों में बार-बार कही गई है। इससे भाव तो स्पष्टतया बोधगम्य हो जाता है पर कभी-कभी एक प्रकार की विरक्ति सी होने लगती है। ऐसे स्थलों पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पुनरुक्ति इस अभिप्राय से नहीं होती कि कथन में विशेष बल उत्पन्न हो वरन् इसलिये कि लेखक को पाठक की बुद्धि और अनुभूति पर अविश्वास रहता था। साधारणतः देखने से ही यह ज्ञात हो जाता है कि द्विवेदी जी ने आधुनिक गद्य-रचना को एक स्थिर रूप दिया है। इन्होंने उसका संस्कार किया; उसे व्याकरण और भाषा संबंधी भूलों से निवृत्त कर विशुद्ध बनाया और मुहावरों का चलती भाषा में सुंदरता से उपयोग कर उसमें बल का संचार किया। सारांश यह कि उन्होंने भाषा-शैली को एक नवीन

रूप देने की पूर्ण चेष्टा की। उसको परिमार्जित, विशुद्ध एवं चमत्कारपूर्ण बनाकर भी व्यवहार-क्षेत्र के बाहर नहीं जाने दिया।

भाव-प्रकाशन के तीन प्रकार होते हैं—व्यंग्यात्मक, आलोचनात्मक और विचारात्मक। इन तीनों प्रकारों के लिये द्विवेदी जी ने तीन भिन्न-भिन्न शैलियों का विधान उपस्थित किया। इस प्रकार के कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इस प्रकार की शैलियाँ इनके पूर्व प्रयुक्त ही नहीं हुई थीं, वरन् अभिप्राय यह है कि उनको निश्चयात्मक रूप अथवा स्थिरता नहीं प्राप्त हुई थी। इन तीनों शैलियों की भाषा भी भिन्न प्रकार की है। भाव के साथ-साथ उसके स्वरूप में भी अंतर उपस्थित हुआ। यह स्वाभाविक भी था। उनकी व्यंग्यात्मक शैली की भाषा एकदम व्यावहारिक होती थी। जिस भाषा में कुछ पढ़ी-लिखी, अँगरेजी का थोड़ा-बहुत ज्ञान रखनेवाली, साधारण जनता बातचीत करती है, उसी का उपयोग इस शैली के अतर्गत किया गया। इसमें उछल-कूद, वाक्य की सरलता एवं लघुता के साथ-साथ भाव-व्यंजना की प्रणाली भी सरल पाई जाती थी। भाषा इसकी मानो चिकोटी काटती चलती थी। इसमें एक प्रकार का मसखरापन कूट-कूटकर भरा रहता था और व्यंग्य भाव भी स्पष्ट समझ में आ जाता था। ऐसे स्थलों पर मुहावरों का व्यवहार कथन को बलिष्ठ और व्यंग्य को तीक्ष्ण बनाने में सहायक हुआ है।

"इस म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुरसीमैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान् बूचा शाह हैं। बाप-दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन आप सिर्फ इसलिये हुए हैं कि अपनी कारगुज़ारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जायँ और खुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घड़ी घिरे रहें। म्युनिसिपैलिटी का काम चाहे चले चाहे न चले, आपकी बला से। इसके एक मेंबर हैं बाबू बख्शिशराय। आपके साले साहब ने फी रुपए तीन-चार पंसेरी का भूसा (म्युनिसिपैलिटी को) देने का ठीका लिया है। आपका पिछला बिल १० हजार रुपये का था। पर कूड़ा-गाड़ी के बैलों और भैंसों के बदन पर सिवा हड्डी के मांस नज़र नहीं आता। सफाई के इंसपेक्टर हैं लाला सतगुरुदास। आपकी इंसपेक्टरी के ज़माने में, हिसाब से कम तनख्वाह पाने के कारण, मेहतर लोग तीन दफे हड़ताल कर चुके हैं। फजूल ज़मीन के एक टुकड़े का नीलाम था।

सेठ सर्वसुख उसके तीन हज़ार देते थे। पर उन्हें वह टुकड़ा न मिला। उसके ६ महीने बाद म्युनिसिपैलिटी के मेंबर पं० सत्यसर्वस्व के ससुर के साले के हाथ वही ज़मीन एक हज़ार पर बेंच दी गई।"

इस वाक्य-समूह के शब्द-शब्द में व्यंग की झलक पाई जाती है। शब्दावली के संचय में भी कुशलता है; क्योंकि उसमें यहाँ विशेष चमत्कार दिखाई पड़ता है। इसके उपरांत जब हम उनकी उस शैली के स्वरूप पर विचार करते हैं जिसका उपयोग उन्होंने प्राय: अपनी आलोचनात्मक रचनाओं में किया था तो हमें ज्ञात होता है कि इसी भाषा को कुछ और गंभीर तथा संयत करके, उसमें से मसखरापन निकालकर उन्होंने एक सर्वांग नवीन रूप का निर्माण कर लिया था। भाषा का वही स्वरूप और वही मुहावरेदानी है परंतु कथन की प्रणाली आलोचनात्मक तथा तथ्यातथ्य-निरूपक होने के कारण गांभीर्य और ओज से पुष्ट हो गई। जैसे :—

"इसी से किसी किसी का ख्याल था कि यह भाषा देहली के बाज़ार ही की बदौलत बनी है। पर यह ख्याल ठीक नहीं। भाषा पहले ही से विद्यमान थी और उसका विशुद्ध रूप अब भी मेरठ प्रांत में बोला जाता है। बात सिर्फ यह हुई कि मुसलमान जब यह बोली बोलने लगे तब उन्होंने उसमें अरबी-फारसी के शब्द मिलाने शुरू कर दिए, जैसे कि आजकल संस्कृत जाननेवाले हिंदी बोलने में आवश्यकता से ज़ियादा संस्कृत शब्द काम में लाते हैं। उर्दू पश्चिमी हिंदुस्तान के शहरों की बोली है। जिन मुसलमानों या हिंदुओं पर फारसी भाषा और सभ्यता की छाप पड़ गई है वे, अन्यत्र भी, उर्दू ही बोलते हैं। बस, और कोई यह भाषा नहीं बोलता। इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत से फारसी-अरबी के शब्द हिंदुस्तानी भाषा की सभी शाखाओं में आ गए हैं। अपढ़ देहातियों ही की बोली में नहीं, किंतु हिंदी के प्रसिद्ध प्रसिद्ध लेखकों की परिमार्जित भाषा में अरबी-फ़ारसी के शब्द आते हैं। पर ऐसे शब्दों को अब विदेशी भाषा के शब्द न समझना चाहिए। वे अब हिंदुस्तानी हो गए हैं और उन्हें छोटे-छोटे बच्चे और स्त्रियाँ तक बोलती हैं। उनसे घृणा करना या उन्हें निकालने की कोशिश करना वैसी ही उपहासास्पद बात है जैसी कि हिंदी से संस्कृत के धन, वन, हार और संसार आदि शब्दों को निकालने की कोशिश करना है। अँगरेजी में हजारों शब्द

ऐसे हैं जो लैटिन से आए हैं। यदि कोई उन्हें निकाल डालने की कोशिश करे तो कैसे कामयाब हो सकता है।''

अधिकांश रूप में द्विवेदी जी की शैली यही है। उनकी अधिक रचनाओं में एवं आलोचनात्मक लेखों में इसी भाषा का व्यवहार हुआ है। इसमें उर्दू के भी तत्सम शब्द हैं और संस्कृत के भी। वाक्यों में बल कम नहीं हुआ परंतु गंभीरता का प्रभाव बढ़ गया है। इस शैली के संचार में वह उच्छृंखलता नहीं है, वह व्यंग्यात्मक मसखरापन नहीं है जो पूर्व के अवतरण में था। इसमें शक्तिशाली शब्दावली में विषय का स्थिरतापूर्वक प्रतिपादन हुआ है; अतएव भाषा-शैली भी अधिक संयत तथा धारावाहिक हुई है। इसी शैली में जब वे उर्दू की तत्समता निकाल देते हैं और संस्कृत की तत्समता का उपयोग करते हैं तब हमें उनकी गवेषणात्मक शैली दिखाई पड़ती है। साधारणतः भाव के अनुसार भाव-व्यंजना में दुरूहता आ ही जाती है, परंतु द्विवेदी जी की लेखन-कुशलता एवं भावों का स्पष्टीकरण एकदम स्वच्छ तथा बोधगम्य होने के कारण सभी भाव सुलझी हुई लड़ियों की भाँति पृथक्-पृथक् दिखाई पड़ते थे। यों तो इस शैली में भी दो एक उर्दू के शब्द आ ही जाते थे पर वे नहीं के बराबर थे। इसकी भाषा और रचना-प्रणाली से ही यह स्पष्ट झलक उठता था कि इसमें गंभीर विषय का विवेचन हुआ है। यह सब होते हुए भी द्विवेदी जी की प्रतिनिधि भाषा-शैली के तारतम्य में यह कुछ बनावटी अथवा गढ़ी हुई ज्ञात होती है। जैसेः—

"अपस्मार और विक्षिप्तता मानसिक विकार या रोग हैं। उनका संबंध केवल मन और मस्तिष्क से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। इन विकारों की परस्पर इतनी संलग्नता है कि प्रतिभा को अपस्मार और विक्षिप्तता से अलग करना और प्रत्येक का परिणाम समझ लेना बहुत ही कठिन है। इसीलिये प्रतिभावान् पुरुषों में कभी-कभी विक्षिप्तता के कोई-कोई लक्षण मिलने पर भी मनुष्य उनकी गणना बावलों में नहीं करते। प्रतिभा में मनोविकार बहुत ही प्रबल हो उठते हैं। विक्षिप्तता में भी यही दशा होती है। जैसे विक्षिप्तों की समझ असाधारण होती है, अर्थात् साधारण लोगों की सी नहीं होती, एक विलक्षण ही प्रकार की होती है, वैसे प्रतिभावानों की भी समझ

असाधारण होती है। वे प्राचीन मार्ग पर न चलकर नए-नए माग निकाला करते हैं; पुरानी लीक पीटना उनको अच्छा नहीं लगता।

जिनकी समझ और जिनकी प्रज्ञा साधारण है, वे सीधे मार्ग का अतिक्रमण नहीं करते; विक्षिप्तों के समान प्रतिभावान् ही आकाश-पाताल फाँदते फिरते हैं। इसी से विक्षिप्तता और प्रतिभा में समता पाई जाती है।"

उपर्युक्त परिचय से स्पष्ट है कि पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को विषयानुसार विविध शैलियों को अपनाना पड़ा था। अन्य अनेक भाषाओं में लिखित विभिन्न वैज्ञानिक एवं विचारात्मक विषयों की ओर हिंदीवालों को ले जाने में इन्होंने बड़ी सहायता की। अपनी 'सरस्वती' के प्रत्येक अंक में वे स्वयं नवीन जानकारी की अनेक बातें लिखते थे और दूसरे पंडितों को भी उत्साहित किया करते थे। ऐसे लेखों और टिप्पणियों में उनकी भाषा का स्वरूप सरल, बोधगम्य, व्यावहारिक और बड़ा आत्मीयतापूर्ण होता था। अपने समय के सामाजिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक प्रश्नों पर भी वे निर्भीक होकर लिखा करते थे। इन प्रश्नों की छानबीन करके उन-पर विरोधपूर्ण अथवा प्रशंसात्मक मंतव्य भी प्रकाशित किया करते थे। ऐसे स्थलों पर उनकी उग्रता, निर्भीकता और व्यंगात्मकता स्पष्ट दिखाई पड़ती है। विषय के प्रतिपादन में व्यंग, आक्षेप और संवेदनशीलता तो रहती ही थी साथ में भाषा-शैली के उतार-चढ़ाव में भी तदनुसार तीव्रता, आवेश और वक्रता दिखाई पड़ती थी।

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी तक हिंदी गद्य का जितना विकास हो चुका था उसको देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा में कथन-भंगिमा का लचरपन नहीं रह गया था। उसमें प्रौढ़ता आ गई थी। परंतु पंडित अंबिकादत्त व्यास ऐसे लेखक अपवाद-स्वरूप, इस समय भी भाषा की प्राचीनता का आभास दे रहे थे। व्यास जी की भाषा में जो चलतापन और सरलता थी वह बड़ी आकर्षक थी। वक्तृता की भाषा में जो एक प्रकार का बल-विशेष पाया जाता है वह इनमें अधिकांश रूप में मिलता है। स्थान-स्थान पर एक ही

२ अंबिकादत्त व्यास

बात को वे पुन: इस प्रकार और इस विचार से दोहरा देते थे कि उसमें कुछ विशेष शक्ति उत्पन्न हो जाती थी। यह सब होते हुए भी उनमें त्रुटियाँ अधिक थीं, जो भाषा की उस उन्नत अवस्था के मेल में न थीं जो उनके समय तक उपस्थित हो चुकी थी। वे अभी तक 'इनने', 'उनने', 'के' (कर), 'सो' (अत: अथवा वह), 'रहैं', 'चाहैं', 'बेर' इत्यादि का ही प्रयोग करते थे। 'तो' और 'भारी' की ऐसी अव्यवस्थित भरमार हो जाती थी कि भाषा में परिष्कार का अभाव और शिथिलता का अनुभव होने लगता था। विरामादिक चिह्नों का भी व्यवहार वे उचित स्थान पर नहीं करते थे। 'भगवान के शरण', 'सूचना करने (देने) वाली', 'वे दर्शन किए'—ऐसे प्रयोगों की उनमें कमी नहीं रहती थी। इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर विभक्तियों के भद्दे अथवा अव्यवहार्य प्रयोग प्राय: मिलते थे। जैसे - 'उसी को दिवाली अन्नकूट होता है' (उसी के लिये दिवाली में अन्नकूट होता है)। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं विभक्तियों को छोड़ भी जाते थे; जैसे—'उसी नाम ले' (उसी का नाम लेकर) इत्यादि। यह सब विचार कर यही कहा जा सकता है कि इनकी भाषा बड़ी भ्रामक हुई है। भ्रामक इस विचार से कि अपने समय के परिष्कार और भाषा-शैली के विकास का वह स्पष्ट बोध नहीं करा सकती। उसको पढ़कर यह कोई नहीं कह सकता कि यह उस समय की भाषा है जिस समय गद्य में प्रौढ़ता उत्पन्न हो चली थी। उनकी भाषा का एक ऐसा अवतरण उपस्थित किया जाता है जिसमें उनकी सभी विशेषताओं का स्वरूप दिखाई पड़ेगा :—

"अब फिर उसी प्रश्न की परीक्षा कीजिए देखिए उसमें एक और कितनी बड़ी भारी भूल है। प्रश्न यह है कि "दूसरे के पूजन से दूसरे का संतोष कैसे"। प्रश्नकर्त्ता का तात्पर्य ऐसा जान पड़ता है कि तुम पत्थर मिट्टी की पूजा करते हो इससे वह क्योंकर प्रश्न हो सकता है? पर यह कैसी भूल है!! हम कभी पत्थर मिट्टी की पूजा नहीं करते किंतु पत्थर मिट्टी के आश्रय से उसी सच्चिदानंद परम पुरुषोत्तम की पूजा करते हैं। जिस प्राणप्यारे से मिलने की हमें जन्म-जन्मांतर से प्यास चली आती है और जिसके बिना हमें जगत् कट्टर सा जान पड़ता है उसे हम सर्वव्यापक सुनते हैं। हम हाथ जोड़ सिर झुका प्रणाम करना चाहते हैं पर उस सर्वव्यापक को प्रणाम करने के लिये हमारे सिर और हाथ सर्वव्यापक हो

नहीं सकते। हम जब सिर झुकावेंगे तो किसी एक ही दिशा की ओर झुकेगा और हाथ भी एक ही ओर जुड़ेगा तो क्या हम हकपकाकर चुप रह जायँ अथवा प्रणाम करें ? चुप रहने से तो भया बस नास्तिक के भी परदादा भए ईश्वर को माना जैसे न माना और सिर झुकाया तो आप ऐसे बुद्धि के अजीर्णवाले पुरुष कह उठेंगे कि आप तो दिक्पूजक हैं यदि हम ईश्वराय नमः कहेंगे तो आप कहेंगे कि आप तो ई—श्व—र इन अक्षरों के पूजक हैं। पर क्या सचमुच आप ऐसी टोंकटाँक कर सकते हैं! कभी नहीं; क्योंकि संसार में कोई ऐसा है ही नहीं जो ईश्वर के प्रतिनिधि शब्दों के झमेले में न पड़ा हो। मूर्तिपूजा से हमारा तात्पर्य है कि किसी प्रतिनिधि के द्वारा ईश्वर का पूजन। हमारे आप के इतना ही भेद रहा कि—नाम रूप दो प्रतिनिधि होते हैं सो आप नाम प्रतिनिधि तक ही पहुँचे हम रूप प्रतिनिधि तक मानते हैं। और किसी मूर्ति को उसी का प्रतिनिधि मान मूर्ति के द्वारा उसी का पूजन करते हैं न कि दूसरे के पूजन से दूसरे को संतोष पहुँचाते हैं।"

इस अवतरण के पढ़ते ही यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि कोई तार्किक किसी विषय पर वाद-विवाद कर रहा है। तर्क और वाद-विवाद का यह रूप आर्य समाज के प्रचार से प्राप्त हुआ था। इसका रूप-रंग हमें उस समय के उन सभी लेखकों में मिलता है जो विषय के खंडन-मंडन की ओर झुके थे। व्यास जी की सरल भाषा इस विषय में बड़ी बलिष्ठ थी। तर्क-शक्ति का प्रभाव उनकी भाषा में स्पष्ट रूप से झलकता रहता था। यह सब होते हुए भी उनमें पंडिताऊपन इतना प्रचंड दिखाई पड़ता है कि कहीं-कहीं बुरा ज्ञात होने लगता है। 'इससे वह क्योंकर प्रश्न हो सकता है', 'तो भया नास्तिक के भी परदादा भए', 'कहैंगे', 'उठैंगे', 'हमारे आपके इतना ही भेद रहा', 'सो' इत्यादि पद अथवा शब्द केवल व्यासों की कथा-वार्ता में ही प्रयुक्त होने योग्य हैं, न कि गंभीर विषय के विवेचन में। वस्तुतः इस पंडिताऊपन के कारण व्यास जी की भाषा अपने समय से बहुत पिछड़ी हुई ज्ञात होती है। इतना ही नहीं वरन् उसमें एक प्रकार की शिथिलता पाई जाती है, जो उस समय की गद्योन्नति के प्रतिकूल थी। इस प्रकार की भाषा उस काल की प्रतिनिधि नहीं मानी जा सकती।

गद्य-शैली की आलोचना करते हुए कोई भी लेखक बाबू देवकीनंदन खत्री को नहीं छोड़ सकता। इसलिये नहीं कि उन्होंने हिंदी-साहित्य में कोड़ी-दो-कोड़ी पुस्तकें उपस्थित की हैं; अथवा किसी ऐसी नवीन अनुभूति की आकर्षक व्यंजना की है कि हम वास्तव में नवीन कल्पना की अनुभूति की ओर प्रेरित हो जाते हैं अथवा इसलिये नहीं कि उन्होंने अपनी रचनाओं के लिये विशेष प्रकार के पाठकजगत् का निर्माण किया अथवा साहित्य के एक अंग की पुष्टि की, वरन् इसलिये कि उन्होंने एक ऐसी चलती एवं व्यावहारिक भाषा का स्वरूप संमुख रखा कि साधारण से साधारण जनता भी उनकी रचनाओं को पढ़कर उस ओर आकृष्ट हो गई। यह उनकी भाषा की बोधगम्यता थी जिसने अपढ़ लोगों में भी यह विचार उत्पन्न कर दिया कि यदि वे हिंदी की वर्णमाला सीख लें तो उन्हें मनोरंजन का बहुत सा मसाला मिल सकता है। भाषा का ऐसा चलता और सुबोध रूप वास्तव में इनके पूर्व नहीं उपस्थित हुआ था। इनकी भाषा-शैली में हिंदी-उर्दू के अत्यंत व्यावहारिक रूप का अपूर्व संमेलन हुआ है। यह लेखक की सफल कुशलता है। इनकी भाषा उपन्यास-लेखन की परंपरा में रामचरितमानस का कार्य करती है। हिंदी-उर्दू का इतना मिला-जुला रूप उपस्थित करने में खत्री जी ने उत्कृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। इन्होंने हिंदी और उर्दू के शब्दों को ठीक उसी रूप में प्रयुक्त किया है जिसमें कि वे साधारण बोल-चाल में आते हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि इनकी रचनाओं की भाषा हम लोगों के नित्य व्यवहार की भाषा जान पड़ती है। इसके अतिरिक्त इन्होंने, आवश्यकता पड़ने पर और स्वाभाविकता के विचार से, अँगरेजी के शब्दों का भी यथास्थान व्यवहार किया है; जैसे—'फ़िलासफ़र', 'कमीशन', 'हिस्ट्री', 'मिस्टरी', 'लाफ़िंग ग्यास' इत्यादि। यह सब कुछ इन्होंने भाषा को चलतापन देने के लिये ही किया है। इस विषय में सिद्धांत-स्वरूप इन्हीं का कथन हम उपस्थित करते हैं "जो हो भाषा के विषय में हमारा वक्तव्य यही है कि वह सरल हो और नागरी वर्णों में हो। क्योंकि जिस भाषा के अक्षर होते हैं, उनका खिंचाव उन्हीं मूल भाषाओं की ओर होता है जिनसे उनकी उत्पत्ति हुई है।" "किसी दार्शनिक ग्रंथ वा पात्र

३ देवकीनंदन खत्री

की भाषा के लिये यदि किसी को कोष टटोलना पड़े तो कुछ परवाह नहीं; परंतु साधारण विषयों की भाषा के लिये भी कोष की खोज करनी पड़े तो निःसंदेह दोष की बात है।"

भाषा को सरल बनाते-बनाते इन्होंने भी स्थान-स्थान पर व्याकरण की अनेक अशुद्धियाँ की हैं। ये भूलें केवल प्रमादवश हुई हों ऐसी बात नहीं है। वास्तव में वे भाषा-व्याकरण की अज्ञानता के कारण हुई हैं। जैसे—'बड़े खुशी की बात है', 'गुरु जी ने मुझे जो कुछ ऐयारी सिखाना था सिखा चुके', 'अपने भाषा को', 'कवियों के दृष्टि में' इत्यादि। इसके अतिरिक्त उनकी रचनाओं में अधिकतर 'हों' ( हो ), 'के' ( कर ), 'होवोगे' ( होगे ), 'सो' ( यह ), 'को' ( से ), 'करके' मिलता है। ये 'अस्तु' का प्रयोग बिना किसी प्रयोजन के ही किया करते थे। इस प्रकार की त्रुटियाँ या तो इसलिये हुई हैं कि ये बोल-चाल की प्रगति को अधिक स्थान देना चाहते हैं अथवा उस समय तक गद्य-साहित्य का जो विकास हुआ था उससे ये कुछ दूर थे।

यह सब होते हुए भी इनकी भाषा में न तो किसी प्रकार की जटिलता है और न भाव-प्रकाशन-प्रणाली में कोई क्लिष्टता ही। इनके वाक्य सरल और छोटे-छोटे होते थे। उनका रचना-क्रम सीधा और उतार-चढ़ाव व्यावहारिक रहता था। किसी भाव को घुमा-फिराकर कहना अथवा रचना-चमत्कार दिखाना इनके सिद्धांत के विरुद्ध था। इनकी लेखनी का सीधापन देखिए :—

"कुछ दिन की बात है कि मेरे कई मित्रों ने संवादपत्रों में इस विषय का आंदोलन उठाया था कि 'इसका ( संतति ) कथानक संभव है कि असंभव। मैं नहीं समझता था कि यह बात क्यों उठाई और बढ़ाई गई। जिस प्रकार पंचतंत्र और हितोपदेश बालकों की शिक्षा के लिये लिखे गए उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिये, पर यह संभव है कि असंभव इसपर कोई यह समझे कि चंद्रकांता और वीरेंद्रसिंह इत्यादि पात्र और उनके विचित्र स्थानादि सब ऐतिहासिक हैं तो बड़ी भारी भूल है। कल्पना का मैदान बहुत विस्तृत है और यह उसका एक छोटा सा नमूना है। अब रही संभव और असंभव की बात अर्थात् कौन सी बात हो सकती है और कौन सी नहीं हो सकती? इसका विचार प्रत्येक पुरुष की योग्यता और देश-काल-पात्र से संबंध रखता है। कभी ऐसा समय था कि यहाँ के आकाश में विमान उड़ते थे, एक एक वीर पुरुषों के तीरों में

यह सामर्थ्य थी कि क्षण मात्र में सहस्रों पुरुषों का संहार हो जाता, पर अब वह बातें खाली पौराणिक कथा समझी जाती हैं। पर दो सौ वर्ष पहले जो बातें असंभव थीं आजकल विज्ञान के सहारे वे सब संभव हो रही हैं। रेल, तार, बिजली आदि के कार्यों को पहले कौन मान सकता था? और फिर यह भी है कि साधारण लोगों की दृष्टि में जो असंभव है कवियों के दृष्टि में भी वह असंभव ही रहे, यह कोई नियम की बात नहीं है। संस्कृत साहित्य के सर्वोत्तम उपन्यास कादंबरी की नायिका युवती की युवती ही रही पर उसके तीन जन्म हो गए। तथापि कोई बुद्धिमान् पुरुष इसको दोषावह न समझकर गुणाधायक ही समझेगा। चंद्रकांता में जो बातें लिखी गई हैं वे इसलिये नहीं कि लोग उसकी सचाई झुठाई की परीक्षा करें प्रत्युत इसलिये कि उसका पाठ कौतूहलवर्धक हो।"

इस अवतरण में तो कुछ संस्कृत की तत्समता का प्राबल्य आ गया है। यह स्वाभाविक है; क्योंकि यहाँ खत्री जी अपने विराट् उपन्यास के घेरे से बाहर आकर अपने सिद्धांत का प्रतिपादन कर रहे हैं। उनके उपन्यासों की साधारण भाषा इससे भी सरल है। वस्तुतः उनकी वह भाषा इस योग्य नहीं होती थी कि उसमें तथ्यातथ्य की खुलकर विवेचना हो सके। यों तो इस अवतरण की भाषा-विशेष का विचार कर आशा की जा सकती है कि यदि अन्य विषयों पर भी वे कुछ लिखते तो संभव है अच्छा और प्रौढ़ लिखते; परंतु यदि हम केवल उनके उपन्यासों की ही भाषा पर ध्यान दें तो यह निर्विवाद मान लेना पड़ेगा कि वह भाषा गंभीर विचारों के प्रदर्शन में अयोग्य थी। उसमें किसी घटना का वर्णन और इतिवृत्त-कथन भली भाँति हो सकता है; और यही हुआ भी है। यही कारण है कि उन्हें सफलता अच्छी मिली है।

उपन्यास-रचना के विभिन्न तत्वों की दृष्टि से खत्री जी की कृतियों ने तत्कालीन साहित्यिक गतिविधि में प्रगति उत्पन्न की थी। उनसे भाषा-प्रसार तो हुआ ही, पाठकों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई। इतिवृत्तों का इतना कुतूहलपूर्ण गुंफन और विस्तार प्रबल बुद्धि का प्रमाण है। तिलस्मी और ऐय्यारी उपन्यास कहकर उनकी रचनाओं को आदर्शवादी अभिभावक भले ही भला-बुरा बताएँ पर ऐसा करने का उन्हें कोई नैतिक आधार नहीं है; क्योंकि इन रचनाओं में न तो कहीं नैतिकता का स्खलन प्रतिपादित हुआ है

और न कोई ऐसी बात उठाई गई है जिससे किसी प्रकार का बौद्धिक एवं धार्मिक ह्रास झलकता हो। इसके विरुद्ध घटनाक्रम की ऐसी सुगठित योजना और सुसंबद्ध उतार-चढ़ाव हिंदी-साहित्य के लिये अद्वितीय वस्तु है। किसी एक उपन्यास के पचासों भाग तक कुतूहल और जिज्ञासा के भाव को निरंतर आकर्षक और अटूट बनाए रखने में सिद्धहस्त लेखक की जो अद्भुत प्रतिभा दिखाई पड़ती है वह किसी भी साहित्य के लिये गर्व का विषय होना चाहिए। किसी भी कृति और कृतिकार की समीक्षा में देश और काल का विचार नितांत वांछनीय होता है। इस पद्धति पर खत्री जी की रचनाओं का यदि विश्लेषण हो तो अवश्य ही उनको बहुत ही ऊँचा स्थान मिलना चाहिए।

इसी समय पंडित किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों का प्रकाशन हो रहा था। जिस प्रकार खत्री जी सरल और व्यावहारिक भाषा के पक्षपाती थे उसी प्रकार गोस्वामी जी संस्कृत की तत्समतामय उत्कृष्ट शब्दावली के।

किशोरीलाल गोस्वामी

"गोस्वामी जी संस्कृत के अच्छे जानकार, साहित्य के मर्मज्ञ तथा हिंदी के पुराने कवि और लेखक हैं" अतः उनकी भाषा भी उसी प्रकार संस्कृत एवं साहित्यिक है। जिस स्थान पर उन्होंने संस्कृत की जानकारी और साहित्य की मर्मज्ञता प्रकट की है वहाँ उनकी भाषा में उत्कृष्टता तो अवश्य उत्पन्न हो गई है परंतु उसी के साथ व्यावहारिकता लुप्त भी हो गई है। इस स्थान पर उनकी साहित्यिक सेवाओं के विवेचन अथवा हिंदी-साहित्य में उनके स्थान-निदर्शन की चेष्टा नहीं करनी है; इस विचार से तो उनका स्थान बड़े महत्त्व का है। परंतु यदि हम केवल उनकी भाषा-शैली की विशेषताओं की आलोचना संमुख रखें तो यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि उनका कहीं पता भी नहीं। उनकी कोई भाषा-विशेष है अथवा नहीं इस विषय पर संदेह किया जा सकता है। इसके दो कारण हैं—एक तो यह कि उनकी भाव-व्यंजना में कोई वैयक्तिकता तथा चमत्कार नहीं पाया जाता और दूसरी बात यह है कि उनके हिंदू और मुसलमान दोनों बनने की असंगत इच्छा ने बना-बनाया खेल भी चौपट कर दिया।

उनकी "रज़िया बेगम" और "मल्लिकादेवी" की—दोनों भाषाओं को पढ़कर कोई भी निश्चयात्मक रूप से विवेचन नहीं कर सकता कि इन दोनों में से कौन गोस्वामी जी की प्रतिनिधि भाषा है। उनके 'रज़िया बेगम' नामक उपन्यास की भाषा एकदम लचर है। "उर्दू ज़बान और शेर सखुन की बेढंगी नक़ल से, जो असल से कभी कभी साफ़ अलग हो जाती है; उनके बहुत से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है।" यदि वे उर्दूदानी दिखाने के विचार से अपनी लेखनी न उठाते तो अवश्य ही उनकी भाषा में क्रमशः वैयक्तिकता का विकास होता। इस अवस्था में दो भिन्न-भिन्न शैलियों का रूप संमुख देखकर उनकी भाषा का कोई रूप स्थिर करना अनुचित होगा। परंतु इतना मान लेने में कोई आपत्ति नहीं दिखाई पड़ती कि जिस स्थान पर उनकी भाषा उपन्यास के संकुचित क्षेत्र से अलग थी वह स्वच्छ और चमत्कारपूर्ण बनी रही। स्थान-स्थान पर मुहावरेदार होने के कारण उसमें कुछ विशेषता अवश्य आ गई है; परंतु सब मिलाकर वह इतनी बलवती नहीं हो सकी है कि गोस्वामी जी के लिये एक स्वतंत्र स्थान का निर्माण करे। बाबू देवकीनंदन जी की कथात्मक भाषाशैली से यह अधिक साहित्यिक है, इसमें कोई संदेह नहीं। इसमें विचारात्मक भावनाओं का प्रकाशन अपेक्षाकृत अधिक दिव्यता से हो सकता है। यही कारण है कि उन्होंने चरित्र-चित्रण और घटना का मनोरम रूप से वर्णन इस भाषा में सफलतापूर्वक किया है। उपन्यासों में जहाँ उन्होंने शुद्ध हिंदी का प्रयोग किया है वहाँ इन बातों का विवेचन अच्छा दिखाई पड़ेगा, और उनके उपन्यासों के बाहर की भाषा कुछ अधिक चलती और धाराहिक हुई है। जैसे :—

"भारतवर्ष में सदा से सूर्यवंशी राजाओं का राज्य जब तक स्वाधीन भाव से चला आया, तब तक इस देश में सरस्वती और लक्ष्मी का पूरा पूरा आदर रहा, ब्राह्मणों के हाथ में विधि थी, क्षत्रियों के हाथ में खड्ग था, वैश्यों के हाथ में वाणिज्य था और शूद्रों के हाथ में सेवा धर्म था; किंतु जब से यह क्रम बिगड़ने लगा ऐक्य के स्थान में फूट ने अपना पैर जमाया और सभी अपने कर्त्तव्य से च्युत होने लगे, देश की स्वतंत्रता भी ढीली पड़ने लगी और बाहरवालों को ऐसे अवसर में अपना मतलब गाँठ लेना सहज हो गया।

"लाखों बरस अर्थात् सृष्टि के आदि से यह (भारतवर्ष) स्वाधीन और सारे भूमंडल पर आधिपत्य करता आया था, पर महाभारत के पीछे यहाँवालों की बुद्धि कुछ ऐसी बिगड़ गई और आपस के फूट के कारण जयचंद ने ऐसा चौका लगाया कि सदा के लिये यह गुलामी की जंजीर से जकड़ दिया गया, जिससे अब इसका छुटकारा पाना कदाचित् कठिन ही नहीं वरन् असंभव भी है।"

पद्य की छाप गद्य पर स्पष्ट पड़ती है। पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय का गद्य इस बात का साक्षी है। गद्य लिखते समय भी उपाध्याय जी का धारा-प्रवाह वस्तुतः पद्यात्मक ही रहता है। पद्य की सी ही लहर, शब्द-संगठन, भावभंगी एवं माधुर्य उनके गद्य में भी मिलता है। गद्यात्मक सौष्ठव का ह्रास और पद्यात्मक विभूति की उत्कृष्टता इनके गद्य में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। इनकी भावव्यंजना एवं शब्दों के विशिष्ट प्रयोगों से काव्यात्मक रस की अनुभूति होती है। यही कारण है कि "कभी कभी वे बड़े असाधारण क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करते हैं।" इसके अतिरिक्त भाव-व्यंजना का प्रकार भी कहीं-कहीं इतना पद्यात्मक हो जाता है कि उसे गद्य कहने में एक प्रकार का संकोच होता है। वस्तुतः यह शैली गद्य-काव्य में यदि प्रयुक्त होती तो विशेष सुंदर ज्ञात होती। परंतु इतना होते हुए भी उनके भाव-द्योतन में शैथिल्य नहीं दिखाई पड़ता।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

कुछ लोगों का कहना है कि "इस प्रकार के गद्य में साधारण विषयों की व्यंजना नहीं हो सकती।" यदि साधारण विषयों से भूगोल तथा खगोल ऐसे विषयों का तात्पर्य है तो यह कहना समीचीन ज्ञात होता है; क्योंकि इतिवृत्तात्मक कथानक के लिखने में काव्यात्मक व्यंजना का जितना ही लोप हो उतना ही अच्छा है। इसके अतिरिक्त जो लोग इनके गद्य में पंडित रामचंद्र शुक्ल की विशिष्टताएँ चाहते हैं वे भी अन्याय करते हैं। उपाध्याय जी में शब्द-बाहुल्य एवं वाक्य-विस्तार अधिक दिखाई पड़ता है जो कि शुक्ल जी के ठीक विपरीत है। परंतु इसके लिये उपाध्याय जी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि दोनों लेखकों की दो भिन्न-भिन्न शैलियाँ और विचार हैं। शुक्ल जी विषय-प्रतिपादन में अधिक सतर्क रहते हैं और गागर में सागर भरते हैं। उसमें उन्हें अच्छी

सफलता मिली है। उनके शब्द और वाक्य-समूह भाव-गांभीर्य से आक्रांत रहते हैं परंतु उपाध्याय जी में ऐसी बात नहीं दिखाई पड़ती। उनका भाव-निदर्शन अधिक काल्पनिक एवं साहित्यिक होता है। उसमें गद्यात्मक गठन भले ही न हो, परंतु मिठास और काव्यात्मक ध्वनि इतनी रहती है कि पाठक उधर ही आकृष्ट हो जाता है। इस ध्वनि-विशेष के कारण सर्वत्र ही उनमें आलंकारिकता तथा सानुप्रासिकता दिखाई पड़ती है और कथन-प्रणाली विस्तृत होती है। निम्नलिखित गद्यांश में ये बातें स्पष्ट दिखाई पड़ेंगी :—

"कहते व्यथा होती है कि कुछ कालोपरांत हमारे ये दिन नहीं रहे—हममें प्रतिकूल परिवर्तन हुए और हमारे साहित्य में केवल शांत और शृंगार रस की धारा प्रबल वेग से बढ़ने लगी। शांत रस की धारा ने हमको आवश्यकता से अधिक शांत और उनके संसार की असारता के राग ने हमें सर्वथा सारहीन बना दिया। शृंगार रस की धारा ने भी हमारा अल्प अपकार नहीं किया। उसने भी हमें कामिनी कुल शृंगार का लोलुप बनाकर समुन्नति के समुच्च शृंग से अवनति के विशाल गर्त में गिरा दिया। इस समय हम अपनी किंकर्तव्यविमूढ़ता, अकर्मण्यता, अकर्मण्टुता को साधुता के परदे में छिपाने लगे—और हमारी विलासिता, इंद्रिय-परायणता, मानसिक मलिनता भक्ति के रूप में प्रकट होने लगी। इधर निराकार की निराकारिता में रत होकर कितने सब प्रकार बेकार हो गए और उधर आराध्यदेव भगवान् वासुदेव और परम आराधनी या श्रीमती राधिका देवी की आराधना के बहाने पावन प्रेम-पंथ कलंकित होने लगा। न तो लोक-पावन भगवान् वासुदेव लौकिक प्रेम के प्रेमिक हैं, न तो वंदनीया वृषभानु-नंदिनी कामनामयी प्रेमिका, न तो भुवन-अभिराम वृंदावन धाम अवैध विलास-वसुंधरा है, न कलकल-वाहिनी कलिंद नंदिनी-कूल कामकेलि का स्थान। किंतु अनधिकारी हाथों में पड़कर वे वैसे ही चित्रित किए गए हैं। कतिपय महात्माओं और भावुक जनों को छोड़कर अधिकांश ऐसे अनधिकारी ही हैं, और इसलिये उनकी रचनाओं से जनता पथ-च्युत हुई। केहरिपत्नी के दुग्ध का अधिकारी स्वर्ण-पात्र है, अन्य पात्र उसको पाकर अपनी अपात्रता प्रकट करेगा। मध्यकाल से लेकर इस शताब्दी के प्रारंभ तक का ही हिंदी साहित्य उठाकर आप देखें वह केवल विलास का क्रीड़ा-क्षेत्र और काम-वासनाओं का उद्गागार मात्र है। संतों की बानी और

कतिपय दूसरे ग्रंथ जो हिंदू जाति का जीवनसर्वस्व, उन्नायक और कल्पतरु है, जो आदर्श चरित्र का भांडार और सद्भाव-रत्नों का रत्नागार है, जो आज दस करोड़ से भी अधिक हिंदुओं का सत्पथ-प्रदर्शक है, यदि वह है तो रामचरितमानस है, और वह गोस्वामीजी के महान् तप का फल है।"

इस प्रकार के गद्यांशों में साहित्यिक छटा के अतिरिक्त भाषा-गांभीर्य भी पर्याप्त रूप में दिखाई पड़ता है। इस प्रकार की रचनाओं के प्रवाह में जब कभी 'करके', 'होवे' और 'होता होवे' इत्यादि शब्दों का प्रयोग दिखाई देता है तो पंडिताऊपन की झलक अवश्य आती है; परंतु इनका आधिक्य न होने के कारण और तत्समता का बाहुल्य होने से भाषा में शिथिलता नहीं उत्पन्न होने पाती।

उपाध्याय जी ने केवल साहित्यिक गद्य की ही रचना की हो ऐसी बात नहीं है। साधारण जनता के लिये ठेठ भाषा के निर्माण में भी वे सफल हुए हैं। इसके प्रमाण उनके 'ठेठ हिंदी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' नामक उपन्यास हैं। उनमें जिस ठेठ भाषा का प्रयोग हुआ है वह वस्तुतः ग्राम्य जीवन के उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त इधर कुछ दिनों से वे मुहाविरेदार पद्य और गद्य का निर्माण कर रहे हैं। उसमें एक प्रकार की विशेष सजीवता दिखाई पड़ती है। कहीं-कहीं तो सारी भावव्यंजना ही मुहावरों में हुई है। ऐसे स्थानों पर भाषा गठित और भाव-व्यंजना आकर्षक हुई है। इन स्थानों पर भाषा में साहित्यिकता और गांभीर्य न होकर एक प्रकार की चटपटी उछल-कूद दिखाई पड़ती है। वहाँ की व्यंजनात्मक शक्ति ही निराली है। जैसे :—

"हम आसमान के तारे तोड़ना चाहते हैं, मगर काम आँख के तारे भी नहीं देते। हम पर लगाकर उड़ना चाहते हैं, मगर उठाने से पाँव भी नहीं उठते। हम पालिसी पर पालिश करके उसके रंग को छिपाना चाहते हैं, पर हमारी यह पालिसी हमारे बने हुए रंग को भी बदरंग कर देती है। हम राग अलापते हैं मेल-जोल का, मगर न जाने कहाँ का खटराग पेट में भरा पड़ा है। हम जाति जाति को मिलाने चलते हैं, मगर ताब अछूतों से आँख मिलाने की भी नहीं। हम जातिहित की तानें सुनाने के लिये आते हैं, मगर ताने दे दे कलेजा छलनी बना देते हैं। हम कुल हिंदू जाति को एक रंग में रँगना चाहते हैं, मगर जाति जाति के अपनी अपनी डफली और अपने अपने राग ने रही सही एकता को भी धता बता

दिया है। हम चाहते हैं देश को उठाना, पर आप मुँह के बल गिर पड़ते हैं। हमें देश की दशा सुधारने की धुन है, पर आप सुधारने पर भी नहीं सुधरते। हम चाहते हैं जाति की कसर निकालना, मगर हमारे जी की कसर निकाले भी नहीं निकलती। हम जाति को ऊँचे उठाना चाहते हैं, पर हमारी आँख ऊँची होती ही नहीं। हम चाहते हैं जाति को जिलाना, मगर हमें मर मिटना आता ही नहीं।"

इन प्रतिनिधि लेखकों के बीच में अब दो लेखक ऐसे उपस्थित किए जाते हैं जिनका नाम अधिक प्रसिद्ध नहीं है। जिन लोगों ने उनकी रचना-शैली की विशेषता पर विशेष ध्यान नहीं दिया है उन लोगों को संभवतः ज्ञात भी न होगा कि पंडित माधव मिश्र और सरदार पूर्णसिंह जी भी कोई अच्छे लेखक थे। इन दोनों लेखकों ने इने-गिने लेख लिखे हैं, परंतु इन लेखों में उनका व्यक्तित्व अंतर्निहित है। इन लोगों की कुछ विशेषताएँ ऐसी थीं जिनका आभास और किसी की भी रचना में हम नहीं पाते। इनके थोड़े से लेखों के पढ़ने से ही ज्ञात हो जाता है कि यदि ये लेखक बराबर अपने निकाले पथ पर चलते रहते तो भाषा की वह दिव्यता सामने आती कि एक बार पढ़नेवाले चमत्कृत और दंग रह जाते।

९. माधव मिश्र

पंडित माधव मिश्र की रचना में चमत्कार का बड़ा ही आकर्षक रूप है। इनकी भाषा बड़ी सतर्क हुई है। स्थान-स्थान पर क्रमागत भावोदय का सुंदर चित्र मिलता है। ये अपने प्रतिपाद्य विषय की आरंभिक स्थापना बड़ी गंभीरता और शक्ति के साथ करते थे। इनकी वाक्य-रचना में बड़ा ओज और बड़ी प्रकाशन-शक्ति है। कुछ वाक्य-समूह इस प्रकार ग्रथित मिलते हैं कि उनमें एक ही ढंग का उतार-चढ़ाव पाया जाता है। इससे वाक्य-विन्यास और भी चमत्कारपूर्ण हो गया है। इसी वाक्य-विन्यास के कारण इनकी भाषा-शैली में धारा-प्रवाह का एक बँधा रूप दिखाई पड़ता है। वाक्य-समूह के प्रथम वाक्य से यदि पढ़ना आरंभ किया जाय तो जब तक अंत तक न पहुँचें रुकते नहीं बनता; और यदि रुकें तो यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि विषय अपूर्ण रह गया है। इस धारावाहिक प्रगति के कारण इनकी रचना में एक वैचित्र्य पाया जाता है जिसे हम वैयक्तिकता कह सकते हैं। शब्द-चयन के विचार से हम यह

कह सकते हैं कि इनका झुकाव संस्कृत तत्समता की ओर अधिक था। भाषा संस्कृत-बहुला होने पर भी ऊबड़-खाबड़ नहीं होने पाई है। वह बड़ी ही संस्कृत, संयत एवं शिष्ट रूप धारण किए रहती है। इस प्रकार की भाषा में किसी गहन विषय का अच्छा विवेचन तथा प्रतिपादन हो सकता है। इसके अतिरिक्त इनकी भाषा इनकी आंतरिक भावनाओं का इतना मार्मिक चित्र उपस्थित करती है कि शब्दावली से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक के हृदय में भावावेश की कैसी प्रबलता है। जिस स्थान पर इनके हृदय में करुणात्मक भावोदय का आरंभ होता है वहाँ भाषा में भी एक प्रकार की कारुणिक ज्योति उत्पन्न हो जाती है। जिस स्थान पर हृदय में क्रोध का आवेश रखकर वे लिखते हैं वहाँ की भाषा में भी कुछ उग्रता झलकती है। जैसे—"निरंकुशता और धृष्टता आजकल ऐसी बढ़ी है कि निरर्गलता से ऐसी मिथ्या बातों का प्रचार किया जाता है। इस भ्रांत मत का प्रचार करनेवाले यदि वेबर साहब यहाँ होते तो हम उन्हें दिखाते कि जिसका वे अपनी विषदग्धा लेखनी से जर्मनी में वध कर रहे हैं वह भारतवर्ष में व्यापक और अमर हो रहा है।"

उनकी गद्य-शैली में प्रधान चमत्कार नाटकत्व का है। इस नाटकत्व और वक्तृता की भाषा में विशेष अंतर न मानना चाहिए। श्रोता किसी विषय को सुनकर अधिक प्रभावित हो, केवल इस विचार से एक ही बात को, इधर-उधर कई प्रकार से, कई वाक्यों में कहा जाता है। "राम नाम ही अब केवल हमारे संतप्त हृदय को शांतिप्रद है और राम नाम ही हमारे अंधे घर का दीपक है", "यही डूबते हुए भारतवर्ष का सहारा है और यही अंधे भारत के हाथ की लकड़ी है" इत्यादि वाक्यांशों में वक्तृतामय कथन का आभास स्पष्ट मिलता है। इतना ही नहीं, कथन की यही प्रवृत्ति कभी-कभी बड़े विस्तार में उपस्थित होती है। सारांश यह कि मिश्र जी की भाषा बड़ी प्रौढ़, ओजस्विनी, परिमार्जित एवं सतर्क हुई है; उसमें उत्कृष्टता और ओज का अच्छा संमेलन है; नाटकत्व और वक्तृत्व का स्थिर सामंजस्य पाया जाता है। एक छोटे से अवतरण से इनकी सारी विशेषताएँ देख ली जा सकती हैं।

"आर्य वंश के धर्म-कर्म और भक्ति-भाव का वह प्रबल प्रवाह— जिसने एक दिन बड़े बड़े सन्मार्ग-विरोधी भूधरों का दर्प दलन कर उन्हें

रज में परिणत कर दिया था—और इस परम पवित्र वंश का वह विश्व-व्यापक प्रकाश—जिसने एक समय जगत् में अंधकार का नाम तक न छोड़ा था—अब कहाँ है ?......जो अपनी व्यापकता के कारण प्रसिद्ध था, अब उस प्रवाह का प्रकाश भारतवर्ष में नहीं है, केवल उसका नाम ही अवशिष्ट रह गया है। कालचक्र के बल, विद्या, तेज, प्रताप आदि सब का चकनाचूर हो जाने पर भी उनका कुछ-कुछ चिह्न व नाम बना हुआ है, यही डूबते हुए भारत का सहारा है और यही अंधे भारत के हाथ की लकड़ी है।

"जहाँ महा महा महीधर ढुलक जाते थे और अगाध अतल स्पर्शी जल था, वहाँ अब पत्थरों में दबी हुई एक छोटी सी सुशीतल वारिधारा बह रही है जिससे भारत के विदग्ध जनों के दग्ध हृदय का यथाकथंचित् संताप दूर हो रहा है। जहाँ के महा प्रकाश से दिक् दिगंत उद्भासित हो रहे थे, वहाँ अब एक अंधकार से घिरा हुआ स्नेहशून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिससे कभी कभी भूभाग प्रकाशित हो रहा है। पाठक ! जरा विचार कर देखिए, ऐसी अवस्था में यहाँ कब तक शांति और प्रकाश की सामग्री स्थिर रहेगी ? यह किससे छिपा हुआ है कि भारतवर्ष की सुख-शांति और भारतवर्ष का प्रकाश अब केवल 'राम नाम' पर अटका है। राम नाम ही अब केवल हमारे संतप्त हृदय को शांतिप्रद है और राम नाम ही हमारे अँधेरे घर का दीपक है।" ('रामलीला' शीर्षक लेख से )

मिश्र जी की भाँति सरदार पूर्णसिंह अध्यापक की भी रचना बहुत कम है। परंतु कम होना असामर्थ्य का प्रमाण नहीं; क्योंकि कुछ लोग ऐसे होते हैं कि लिखते तो बहुत कम हैं परंतु उतने में ही अपनी उद्भावना शक्ति एवं प्रतिभा का पूर्ण परिचय दे देते हैं। अध्यापक जी भी इसी प्रकार के लेखकों में से हैं। लिखा तो इन्होंने बहुत कम है परंतु जो कुछ लिखा है— जितने लेख इनके संगृहीत हैं—उनसे यह बात स्पष्ट है कि अध्यापक जी कितनी सुंदर एवं प्रौढ़ रचना कर सकते थे। उनकी लेखनी ने कुछ अंशों में आजकल की एक विशेष प्रवृत्ति का आभास दिया था। आजकल जो भाषा-शैली विभिन्न संपादकों एवं व्याख्यानदाताओं में अधिकता से पाई जाती है, जिसमें एक साधारण वाक्य लिखकर उसके जोड़-तोड़ के अन्य अनेक वाक्य उपस्थित कर दिए जाते हैं, वही उनकी साधारण

पूर्णसिंह

रचनाओं में मिलती है। इस प्रणाली के अनुसरण से एक लाभ यह हुआ कि उनकी भाषा अधिक आकर्षक और चमत्कारपूर्ण हो गई है। जैसे—"इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और संगीत की अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है। राग अधिक मृदु हो जाता है। विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्रकला मौन राग अलापने लग जाती है, वक्ता चुप हो जाता है, लेखक की लेखनी थम जाती है, मूर्ति बनानेवाले के सामने नए कपोल, नए नयन और नवीन छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।" इसके अतिरिक्त इन्होंने अपनी भावनाओं को प्रायः रहस्यमय रूप में व्यक्त किया है। रहस्यमय रूप का तात्पर्य केवल इतना ही है कि शब्द-चयन में जो लाक्षणिक वैलक्षण्य है वह तो है ही, भाव-व्यंजना भी अनूठी और दूर तक बढ़ी हुई है। "नाद करता हुआ भी मौन है", "मौन व्याख्यान", "हृदय की नाड़ी में सुंदरता पिरो देता है", "तारागण के कटाक्षपूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का" इत्यादि वाक्यांशों में विशेषण और विशेष्य के विरोधाभास का विलक्षण प्रसार मिलता है। शब्द-चयन का यह प्रकार और निर्जीव में सजीवता का आभास इनकी रचना में विशेष आकर्षण उपस्थित करता है।

अध्यापक जी की गद्य-शैली की इस एकांत उत्कृष्टता के बीच-बीच में व्यंग्यात्मक दृष्टांतों के आ जाने से एक रुचिकर और आकर्षक रूप उपस्थित हो गया है। "यह वह आम का पेड़ नहीं है जिसको मदारी एक क्षण में तुम्हारी आँखों में धूल झोंक अपनी हथेली पर जमा दे" अथवा "पुस्तकों के लिखे नुसख़ों से तो और भी बदहजमी हो जाती है। सारे वेद पुराण और शास्त्र भी यदि घोलकर पी लिए जायँ तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं हो सकती", अथवा "परंतु अँगरेजी भाषा का व्याख्यान—चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो—बनारस के पंडितों के लिये रामरौला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय में पंडितों के द्वारा की गई चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृत-ज्ञान-हीन पुरुषों के लिये स्टीम इंजिन के फप्-फप् शब्द से अधिक अर्थ नहीं रखते।"

इन वाक्यों में कथन की चामत्कारिक प्रणाली का अच्छा उदाहरण मिल सकता है। मिश्र जी की भाँति इनका भी झुकाव भाषा

की विशुद्धता की ओर अधिक था। जैसा साधारणतः अन्य लेखकों में पाया जाता है कि कथानक के वर्णन करने की भाषा सरल एवं अधिक चलती होती है और विचार-प्रकाशन की कुछ अधिक क्लिष्ट और परिष्कृत, उसी प्रकार इनकी लेखन-प्रणाली में भी अंतर रहता है। जिस स्थान पर सीधे-सादे कथानक का वर्णन करना है वहाँ वाक्य भी सरल, स्पष्ट तथा अपेक्षाकृत छोटे हुए हैं। जैसे :-

"एक दफे एक राजा जंगल में शिकार खेलते खेलते रास्ता भूल गया। उसके साथी पीछे रह गए। घोड़ा उसका मर गया। बंदूक हाथ में रह गई। रात का समय आ पहुँचा। देश बर्फानी, रास्ते पहाड़ी। पानी बरस रहा है। रात अँधेरी है। ओले पड़ रहे हैं। ठंढी हवा उसकी हड्डी तक को हिला रही है। प्रकृति ने, इस घड़ी, इस राजा को अनाथ बालक से भी अधिक बे-सरो-सामान कर दिया। इतने में दूर एक पहाड़ी की चोटी के नीचे टिमटिमाती हुई बत्ती की लौ दिखाई दी। कई मील तक पहाड़ के ऊँचे-नीचे उतार-चढ़ाव को पार करने से थका हुआ, भूखा और सर्दी से ठिठुरा हुआ राजा उस बत्ती के पास पहुँचा। यह एक गरीब पहाड़ी किसान की कुटी थी। इसमें किसान, उसकी स्त्री और उनके दो-तीन बच्चे रहते थे। किसान शिकारी राजा को अपने झोपड़े में ले गया। आग जलाई। उसके वस्त्र सुखाए। दो मोटी मोटी रोटियाँ और साग आगे रक्खा। उसने खुद भी खाया और शिकारी को भी खिलाया। ऊन और रीछ के चमड़े के नरम और गरम बिछौने पर उसने शिकारी को सुलाया। आप बे बिछौने की भूमि पर सो रहा। धन्य है तू, हे मनुष्य! तू ईश्वर से क्या कम है! तू भी तो पवित्र और निष्काम रक्षा का कर्त्ता है। तू भी आपन्न जनों का आपत्ति से उद्धार करनेवाला है।"

परंतु जिस स्थान पर कुछ विवेचना की आवश्यकता पड़ी है, कुछ गंभीरता अपेक्षित हुई है वहाँ आपसे आप भाषा भी कुछ क्लिष्ट हो गई है और वाक्यों की लघुता भी लुप्त हो गई है। इसके अतिरिक्त कहीं तो वाक्य-रचना की दुरूहता के कारण रुककर सोचने-विचारने की आवश्यकता पड़ती है। छोटे-छोटे वाक्यों में लिखते-लिखते अकस्मात् हम देखते हैं कि एक वाक्य इस प्रकार का उपस्थित हो जाता है जो स्वाभाविक गति को रोक देता है। एकाएक इस क्लिष्टता और दुरूहता के कारण भाषा का अधिकार

डा० श्यामसुन्दर दास

हलका दिखाई पड़ने लगता है और एक प्रकार की अस्वाभाविकता सी जान पड़ने लगती है। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं पर विभक्तियों की भरमार के कारण भाषा के प्रवाह में रुकावट भी आ गई है। जैसे—"उन सब का जाति के आचरण के विकाश के साधनों के संबंध में विचार करना होगा।" भाव की दुरूहता का प्रभाव वाक्य-रचना और भावभंगी में स्पष्ट दिखाई देता है :—

"अपने जन्म-जन्मांतरों के संस्कारों से भरी हुई अंधकारमय कोठरी से निकलकर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल सका हो तब तक धर्म के गूढ़ तत्त्व कैसे समझ में आ सकते हैं।" "आचरण के विकाश के लिये नाना प्रकार की सामग्री का जो संसार-संभूत, शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन में वर्तमान है, उन सब का क्या एक पुरुष और क्या एक जाति के—आचरण के विकाश के साधनों के संबंध में, विचार करना होगा।" "मानसोत्पन्न शरद्ऋतु के क्लेशातुर हुए पुरुष इसकी सुगंधमय अटल वसंत ऋतु के आनंद का पान करते हैं।"

भाषा भाव को अनुरूपिणी होती है। जैसा विषय होता है वैसी ही भाषा भी आवश्यक होती है। इसके लिये लेखक को चेष्टा नहीं करनी पड़ती; यह बहुत कुछ स्वाभाविक होता है। बहुत दिनों तक कथा-कहानी उपन्यास-नाटक एवं अन्य प्रकार के साहित्य के सामान्य विषयों का ही प्रणयन होता रहा। सामान्य से मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसे विषयों का लिखना अत्यंत सरल है, वरन् मेरा अभिप्राय केवल यह है कि इनमें घटनाओं का सीधा-सादा वर्णन रहता है। किसी विषय का विवरण देना अथवा कथानक उपस्थित्त करना अपेक्षाकृत उतना कठिन कार्य नहीं है। प्रणयन-समय तक भाषा में जितनी प्रौढ़ता वर्तमान है उसका आश्रय लेकर इन विषयों का विवरण देना अधिक दुरूह नहीं होता। कोई समय ऐसा था कि कथा-कहानियों का लिखना भी बड़ी बात थी; परंतु आज भाषा का साम्राज्य पर्याप्त रूप से विस्तृत हो चुका है और अनेक प्राचीन विषयों की पुनरावृत्ति एवं नवीन विषयों का समारंभ हो चला है। इस समय यदि भाषा की प्रौढ़ता तथा उद्भावना-शक्ति की परीक्षा करनी हो तो हमें उन रचनाओं की

—श्यामसुंदरदास

ओर दृष्टिपात करना आवश्यक होगा जो वस्तुतः इस काल की संपत्ति हैं और जिनपर अभी तक कुछ विशेष लिखा नहीं गया है।

नवीन विचार-धारा को व्यक्त करने के लिये भाषा का कोई नया ढंग पकड़ना पड़ता है। ऐसी अवस्था में लेखक के उत्तरदायित्व की परिधि अत्यंत विस्तृत हो जाती है। उसे भाषा में कुछ विशेष विधान उपस्थित करना पड़ता है। उसके लिये भावों का नियंत्रण आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त उसका यह कर्त्तव्य होता है कि भाव-व्यंजना का वह ऐसा सरल रूप संमुख रखे जिसका आश्रय लेकर पाठक उन नवीन विषयों की सम्यक् अनुभूति कर सके।

इस प्रकार के लेखक का उत्तरदायित्व बड़ी महत्ता का होता है। बाबू श्यामसुंदरदास जी इसी प्रकार के लेखकों में थे। उन्हें भाषा को व्यापक बनाना पड़ा था, क्योंकि जिन विषयों पर उन्हें लिखना था उन विषयों का अभी तक हिंदी-साहित्य में जन्म ही नहीं हुआ था; उन्हें लिखकर समझाने का अवसर ही नहीं आया था। इसके अतिरिक्त उन्हें इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ा था कि विषय का भली भाँति निदर्शन हो - और वह निदर्शन भी इतनी सरलता से हो कि नवीन पाठक उसे भली भाँति समझ सकें। यही कारण है कि हम उन्हें एक ही विषय को बार बार समझाते हुए पाते हैं। इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर "सारांश यह है" कहकर वे प्रतिपादित विषय को पुनः एकत्र करने की चेष्टा करते हैं। यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि लिखते समय लेखक इस विषय में अधिक सचेष्ट है कि कहीं भावों की व्यंजनात्मक शक्ति का क्रमशः ह्रास तो नहीं हो रहा है। यदि किसी स्थान पर उसे इस बात की आशंका हुई है तो वह पुनः यथा-अवसर, विषय को अधिक स्पष्ट एवं व्यापक बनाने में तत्पर रहा है। यही कारण है कि कहीं-कहीं एक ही बात दुहराकर लिख दी गई है।

यों तो इनकी रचना में साधारणतः उर्दू के अधिक प्रचलित शब्द अवश्य आए हैं; जैसे— खाली, दिल, बंद, कैदी, तूफान, इत्यादि, परंतु इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाँति इन्हें भी दोरंगी दुनिया पसंद थी। इन शब्दों के प्रयोग में भी—यह तो निर्विवाद ही है कि—उन्होंने सदैव तद्भव रूप का व्यवहार किया था। इसमें यह आशय गुप्त

रूप में वर्तमान रहता था कि इन शब्दों को अपनी भाषा में स्वीकार कर लिया जाय। इस विषय में, उन्होंने अपने विचार को स्पष्ट लिखा है "जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रखकर, हम उनके पूर्व रूप, रंग, आकार, प्रकार को स्थायी बनाए रहेंगे, तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उनको स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़चन रहेगी।" वे उर्दू के अधिकाधिक प्रचलित शब्दों का ही व्यवहार करते थे और वह भी इतना न्यून कि संस्कृत की तत्समता की धूमधाम में उनका पता भी नहीं लगता। यह धूमधाम क्लिष्टता की बोधक कदापि नहीं हो सकती जैसा कि कुछ उर्दू-मिश्रित भाषा का व्यवहार करनेवालों का विचार है। इनकी संस्कृत तत्समता में अव्यावहारिक एवं समासांत पदावली का उपयोग नहीं पाया जाता। साथ ही व्यर्थ का शब्दा-डंबर भी विशेष नहीं मिलता। इनकी भाषा इस बात का उदाहरण हो सकती है कि हिंदी भाषा के शब्द-विधान में भी कितनी उत्कृष्टता तथा विशदता है। बाबूसाहब की शैली साधारणतः संगठित तथा व्यवस्थित पाई जाती है।

इसके अतिरिक्त उसमें एक धारावाहिक प्रवाह भी मिलता है। शैली का यह प्रावाहिक रूप उन स्थानों पर विशेषतः पाया जाता है जहाँ किसी विचार का प्रतिपादन होता है। ऐसे स्थानों पर भाषा कुछ क्लिष्ट – परंतु स्पष्ट और बोधगम्य—वाक्य साधारण विचार से कुछ बड़े—परंतु गठन में सीधे-सादे, भाव-व्यंजना वशद—परंतु सरल और बलशाली हुई है। बाबू श्यामसुंदरदास अपने समय के बड़े पटु और यशस्वी व्याख्यानदाताओं में थे। इस विषय में उनकी बड़ी प्रसिद्धि थी। इस विशेषता का प्रभाव भी उनकी भाषा-शैली में स्पष्ट लक्षित होता है। उनकी रचनाओं में वाक्ययोजना और शब्दों के स्थापन में स्वराघात का सौंदर्य दिखाई पड़ता है। वाक्य के किसी शब्द अथवा अंश विशेष पर एक विशेष प्रकार का बल आरोपित रहता था जो कथन में वह सौंदर्य उत्पन्न करता था जो प्रायः किसी भाषण में मिलता है। शैली की

**यह विशेषता विषय-प्रसार को शिथिल नहीं होने देती। इसके अतिरिक्त विषय-प्रतिपादन के बीच-बीच में यदि आवश्यकता पड़ी है तो उन्होंने "जैसे" का प्रयोग कर उदाहरण इत्यादि से उसे स्पष्ट बनाने का भी आयोजन किया है। जैसे:—**

"हिंदी-साहित्य का इतिहास ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह विदित होता है कि हम उसे भिन्न-भिन्न कालों में ठीक-ठीक विभक्त नहीं कर सकते हैं। उस साहित्य का इतिहास एक बड़ी नदी के प्रवाह के समान है जिसकी धारा उद्गम-स्थान में तो बहुत छोटी होती है पर आगे बढ़कर और छोटे-छोटे टीलों या पहाड़ियों के बीच में पड़ जाने पर वह अनेक धाराओं में बहने लगती है। बीच-बीच में दूसरी छोटी-छोटी नदियाँ कहीं तो आपस में दोनों का संबंध करा देती हैं और कहीं कोई धारा प्रबल वेग से बहने लगती है और कोई मंद गति से। कहीं खनिज पदार्थों के संसर्ग से किसी धारा का जल गुणकारी हो जाता है और कहीं दूसरी धारा के गँदले पानी या दूषित वस्तुओं के मिश्रण से उसका जल अपेय हो जाता है। सारांश यह कि जैसे एक ही उद्गम से निकलकर एक ही नदी अनेक रूप धारण करती है और कहीं पीनकाय तथा कहीं क्षीणकाय होकर प्रवाहित होती है और जैसे कभी-कभी जल की एक धारा अलग होकर सदा अलग ही बनी रहती और अनेक भूभागों से होकर बहती है वैसे ही हिंदी-साहित्य का इतिहास भी प्रारंभिक अवस्था से लेकर अनेक धाराओं के रूप में प्रवाहित हो रहा है। प्रारंभ के कवि लोग स्वतंत्र राजाओं के आश्रित होकर उनके कीर्तिगान में लगे और देश के इतिहास को कविता के रूप में लिखते रहे। समय के परिवर्तन से साहित्य की यह स्थूल धारा क्रमशः क्षीण होती गई, क्योंकि उसका जल खिंचकर भगवद्भक्ति रूपी धारा, रामानंद और वल्लभाचार्य के अवरोध के कारण दो धाराओं में विभक्त होकर, राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के रूप में परिवर्तित हो गई। फिर आगे चलकर केशवदास के प्रतिभा-प्रवाह ने इन दोनों धाराओं के रूप को बदल दिया। जहाँ पहले भाव-व्यंजना या विचारों के प्रत्यक्षीकरण पर विशेष ध्यान रहता था, वहाँ अब साहित्य-शास्त्र के अंग-प्रत्यंग पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। राम-भक्ति की धारा तो तुलसीदास जी के समय में खूब ही उमड़ चली। उसने अपने अमृतोपम भक्तिरस के द्वारा देश को आप्लावित कर दिया और उसके सामने मानव जीवन का सजीव आदर्श उपस्थित कर दिया।"

( साहित्यालोचन, पृष्ठ ५२ )

शैली के विचार से बाबू साहब में एक और विशेषता है जो उपर्युक्त अवतरण से स्पष्ट हो जाती है। कोई भी विषय कितना ही कठिन क्यों न हो यदि लेखक सरल प्रणाली का अनुसरण करे तो वह अपनी प्रतिभा से अपने विषय को शीघ्र बोधगम्य बना सकता है। यही बात हम इस अवतरण में भी पाते हैं। विषय को अत्यंत सरल रूप में, संमुख उपथित करना बाबू साहब भली-भाँति जानते थे। यहाँ एक साधारण रूपक बाँधकर उन्होंने अपने विषय को अधिक व्यापक बना दिया है। इससे विषय स्पष्ट ही नहीं वरन् शैली भी रोचक हो गई है। उनका विचार था कि विरामादिक चिन्हों का अधिक प्रयोग व्यर्थ है, और यही कारण है कि उनकी रचनाओं में उनका प्रयोग कम हुआ है। ऊपर दिया हुआ अवतरण उस स्थान का है जहाँ पर एक साधारण विषय का प्रतिपादन हो रहा था। एक तो विषय अपेक्षाकृत सरस था और दूसरी बात यह थी कि उसका प्रतिपादन किया जा रहा था, अतएव भाषा का प्रवाह संभवतः चलता और धारावाहिक था। परंतु इस प्रकार की भाषा और उसका प्रवाह सर्वत्र एक सा नहीं मिलेगा। इस बात का समर्थन स्वतः उन्होंने ही किया है—"जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हों, उनके लिये छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग ही सर्वथा वांछनीय है।" "सरल और सुबोध विषयों के लिये यदि वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी हों तो उनसे उतनी हानि नहीं होती।" इसी सिद्धांत का अनुसरण उनकी उन रचनाओं में हुआ है जहाँपर उन्हें किसी जटिल विषय का गवेषणात्मक विवेचन एवं तथ्यातथ्य का निरूपण करना पड़ा है। ऐसे स्थानों में उनके वाक्य अपेक्षाकृत अवश्य छोटे हुए हैं, भाषा अधिक विशुद्ध एवं कुछ क्लिष्ट हुई है। जैसेः—

"भाषा-विज्ञान ने जातियों के प्राचीन इतिहास अर्थात् उनकी सभ्यता के विकास का इतिवृत्त उपस्थित करने में बड़ी अमूल्य सहायता दी है। पुरातत्व तो प्राप्त भौतिक पदार्थों अथवा उनके अवशेषांशों के आधार पर ही केवल प्राचीन समय का इतिहास उपस्थित करता है। प्राचीन जातियों के मानसिक विकास का ब्योरा देने में वह असमर्थ है। भाषा-विज्ञान इस अभाव की भी पूर्ति करता है। मानसिक भावों या विचारों संबंधी शब्दों में उनका पूरा-पूरा इतिहास भरा पड़ा है; और उनके आधार पर हम यह जान सकते हैं कि प्राचीन समय में किस जाति के विचार कैसे थे; वे

ईश्वर, आत्मा आदि के संबंध में क्या सोचते या समझते थे; उनकी रीति-नीति कैसी थी तथा उनका गार्हस्थ्य, सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक जीवन किस श्रेणी या किस प्रकार का था। सारांश यह कि भाषा-विज्ञान ने पुरातत्व के साथ मिलकर प्राचीन जातियों के भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास का एक प्रकार से पूरा-पूरा इतिहास उपस्थित कर दिया है।" (भाषा विज्ञान)

अथवा—

"यह बात स्पष्ट है कि मानव-समाज की उन्नति उस समाज के अंतर्भूत व्यक्तियों के सहयोग और साहचर्य से होती है; पर इस सहयोग और साहचर्य का साफल्य तभी संभव है जब परस्पर भावों या विचारों के विनिमय का साधन उपस्थित हो। भाषा ही इसके लिये मूल साधन है और इसी की सहायता से मानव-समाज की उन्नति हो सकती है। अतएव भाषा का समाज की उन्नति के साथ बड़ा घनिष्ट संबंध है; यहाँ तक कि एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही संभव नहीं। पर यहीं उनके संबंध के साफल्य की इतिश्री भी नहीं होती। दोनों साथ ही साथ चलते हैं। समाज की उन्नति के साथ भाषा की उन्नति और भाषा की उन्नति के साथ समाज की उन्नति होती रहती है। इसलिये हम कह सकते हैं कि उनका अन्योन्याश्रय संबंध है।"

('साहित्य और समाज' शीर्षक लेख से)

उपर्युक्त गद्यांश की शैली में भाषा के बलिष्ठ रूप की एक सजीव झलक प्राप्त होती है। इस प्रतिभा को हम वैयक्तिकता का नाम नहीं दे सकते, यह बात ठीक है; किंतु इसमें गवेषणात्मक विवेचना का बोधगम्य स्वरूप अवश्य उपस्थित किया गया है। "गंभीर बातों पर लिखते समय बड़े अभ्यस्त लेखक को भी शाब्दिक सारल्य से हाथ धोना पड़ता है और उसे सीधे संस्कृत से जटिल शब्द लाकर रखने पड़ते हैं।" उर्दू ऐसे गंभीर विषयों की ओर बहुत नहीं बढ़ सकी है, अतएव उस भाषा के शब्दों की ओर देखना ही व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त उसकी कोई आवश्यकता भी नहीं। इस समय तक हिंदी गद्य ने इतनी प्रौढ़ और व्यवहारशील उन्नति कर ली है कि उसमें उत्कृष्ट विषयों के खंडन-मंडन एवं प्रतिपादन के लिये पर्याप्त सामर्थ्य आ गया है। इसी पुष्टता की परिचायक बाबू साहब की भाषा है। उसमें वाक्यों एवं वाक्यांशों का संतुलन और सानुप्रासिक वर्ण-मैत्री

श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी

का सुंदर और आकर्षक रूप भी मिलता है; साथ ही भविष्य की वह महत्वाकांक्षा भी संनिविष्ट दिखाई पड़ती है जिसके वशीभूत होकर साहित्य-संसार में नित्य वैज्ञानिक एवं आलोचनात्मक ग्रंथों का प्रणयन बढ़ता ही जायगा।

बाबू श्यामसुंदरदास की रचना-शैली के ठीक विपरीत गुलेरी जी की रचना-शैली है। बाबूसाहब की भाषा-शैली साहित्यिक एवं साधारण व्यवहार से कुछ भिन्न है और गुलेरी जी की नितांत स्पष्ट, सरल एवं व्यावहारिक है। उनकी भावभंगी उत्कृष्ट और इनकी चटपटी है। उनकी शब्दावली में संस्कृत की छाप और वाक्य-विन्यास में विस्तार है; परंतु इनकी शब्दावली चलती, सरल और विशिष्टतापूर्ण है तथा वाक्य-विन्यास आकर्षक, गठित और मुहावरेदार है। इनके इतिवृत्त की कथन-प्रणाली में भी विभिन्नता है। बाबू साहब इस विचार से अधिक आलंकारिक एवं साहित्यिक हैं और गुलेरी जी मुहावरे पर जान देनेवाले और व्यंग्यपूर्ण हैं। इन विभिन्नताओं का प्रधान कारण है दोनों लेखकों का, साहित्यिक रचना का, उद्देश्य। दोनों दो भिन्न विषयों के लेखक हैं। बाबूसाहब के विषय अधिकांश में साहित्यिक आलोचना और भाषा-विज्ञान के हैं और गुलेरी जी प्रधानतः सामयिक विषयों पर लिखते थे। उन सामयिक विषयों में आलोचना, इतिहास और समाज-सुधार के प्रश्न विशेषतः आते हैं। कार्यक्षेत्र एक रहने पर भी दोनों लेखकों के मार्ग सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं।

चंद्रधर गुलेरी

गुलेरी जी की रचना-शैली की प्रधानता उसकी व्यावहारिकता में है। उनकी शैली में विचित्र चलतापन है। किसी विषय को सीधी-सादी भाँति उपस्थित करके, विषय का प्रतिपादन करते समय छोटे-छोटे और स्पष्ट वाक्यों की आकर्षक मालिका गूँथकर, उसमें मुहावरों का उपयुक्त और सामयिक व्यवहार करके वे जान डाल देना भली भाँति जानते थे। किसी विषय को रोचक बनाने के विचार से वे स्थान-स्थान पर उर्दू पदावली का प्रयोग करते थे। इसके अतिरिक्त अँगरेजी शब्दों का व्यवहार भी विशेष ध्यान देने योग्य है। कहीं कहीं तो ये शब्द व्यावहारिक और नित्य बोलचाल में आनेवाले हैं; जैसे—पब्लिक, पालिश और मेंबर इत्यादि, और

कहीं-कही वे क्लिष्ट, अव्यावहारिक एवं जटिल हैं; जैसे—assumed, dramatic, necessity, conference, provisional, committee, presentiment और telepathy इत्यादि। इस प्रकार के शब्दों के साधारण व्यवहार से स्थान-स्थान पर वाक्यों की बोधगम्यता नष्ट हो जाती है और प्रधानतः उस समय जब पाठक अँगरेजी भाषा का ज्ञाता नहीं है। अन्य भाषा के व्यावहारिक शब्दों के प्रयोग से अपनी भाषा की व्यंजनात्मक असमर्थता प्रकट होती है।

गुलेरी जी संस्कृत भाषा और साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। यह बात उनके गंभीर लेखों से स्पष्ट हो जाती है। जिस समय वे अपने विषय का सतर्क प्रतिपादन करते हुए पाए जाते हैं उस समय उनकी भाषा परिमार्जित तथा प्रौढ़ ज्ञात होती है; वहाँ उनका साहित्यिक मसखरापन विचार की विशुद्धता से आक्रांत रहता है। यही कारण है कि उनकी भाषा-शैली में स्वच्छता, वाक्य-विन्यास में संगठन और शब्द-समूह में परिष्कृति दिखाई देती है। उनके गंभीर विषयों पर लिखे गए लेखों की भाषा प्रायः संस्कृत-बहुला है। इस संस्कृत का संस्कार और प्रांतिकता का प्रभाव उनके क्रिया-शब्दों पर अधिक पड़ा। उन्होंने प्रायः 'करैं', 'रहैं', 'चाहैं', 'कहैंगे', 'सुनावैंगे', 'निल्हाया', 'कहलावैं', 'कहलवाते हैं', 'जिनने', 'बेर', 'खैंच' और 'दीखते' इत्यादि का प्रयोग किया है। इस प्रकार के प्रयोगों में अशुद्धि भले ही न हो परंतु पंडिताऊपन अवश्य झलकता है। इस संस्कार का प्रभाव वाक्य-विन्यास और कथन-प्रणाली पर भी पड़ा है। जैसे—"ऋषि ( सुकन्या से ) बोला "बाले! हम सब एक साथ दिखाई देते हुए निकलेंगे, तू तब मुझे इस चिह्न से पहचान लेना।' 'वे सब ठीक एकाकार दीखते हुए स्वरूप में अति सुंदर होकर निकले।' "

यह सब होते हुए भी उनकी गंभीर रचनाओं में बल है, प्रतिभा है और एक प्रकार का विचित्र आकर्षण है। अपने विषय-प्रतिपादन की क्षमता उनमें अपूर्व थी। ऐसे अवसरों पर वे बड़े बलिष्ठ और अर्थ-गंभीर शब्दों का प्रयोग बहुतायत से करते थे। जैसे :—

"प्रथम तो काशी से सामाजिक परिषद् को उड़ाने का जो यत्न किया जा रहा है वह अनर्गल, इति कर्तव्यता-शून्य, उपेक्ष्य और एकदेशी है। इसका प्रधान उद्देश्य मालवीय जी को अपदस्थ करना है और गौण उद्देश्य कुछ आत्मंभरि लोगों की तिलक बनने की लालसा है। युक्तप्रांत में बहुत से लोगों को तिलक बनने की लालसा जग पड़ी है परंतु चाहे वे त्रिवेणी में गोता खावें, चाहे त्रिलोकी घूम आवें, चाहे उनपर न्यायालयों में घृणित से घृणित अभियोग लग जावें, वे तिलक की षोडशी कला को भी नहीं पा सकते। वर्षभर तक यार लोग चुप रहे। काशी में सामाजिक परिषद् की स्वागतकारिणी में सुधाकर जी और राम मिश्र जी दो महामहोपाध्याय भी चुने गए, वर्ष भर कुछ विरोध नहीं किया। ये लोग भी ताने मारते अवसर तकते रहे। परंतु जब पंडित मालवीय जी के धर्ममहोत्सव का विज्ञापन निकला तो मनुष्य-दुर्बलता से सुलभ अभिमान जाग उठा और सामाजिक परिषद् का होना मालवीय जी के सिर रक्खा गया। क्या हिंदुओं में मालवीय जी का मान ऐसे कच्चे तागे पर है जो यों कम हो सकता है! माना कि सामाजिक परिषद् हिंदू सिद्धांतों की विद्या तक और इसी लिये निष्फल भी है, परंतु उसके न कराने का यत्न क्या उस निंदनीय जलाने बहाने के ज्वर के समान नहीं है जो डेढ़ दो वर्ष पहले हिंदी साहित्य पर चढ़ा था? यदि विरोधियों का उत्तर उनका मुँह बंद करना ही है तो क्यों "वंदे मातरम्" गाने की मनाई के लिये मि० फुलर का शासन बदनाम किया जाता है? यह भी कथन विकृत है कि सामाजिक परिषद् के नेता "अपनी विकृत वासनाओं को पूरा करने के लिये अपने सुधार या दुर्धार चाहते हैं।" उद्देश्य में भेद हो चाहे न हो, काम के ज्ञान और मार्ग में भेद हैं, इसलिये वासनाएँ विकृत बताना बड़ी भारी भूल है। न्यायमूर्ति रानाडे या चंदावरकर प्रभृति के व्यक्तिगत आचरण इतने उज्ज्वल हैं कि छिद्रान्वेषी निगाह उनकी झलक से झँप जाती है और किसी भी समाज-सुधारक का चरित्र इतना कलुषित न होगा, जितना एक पंजाबी धर्म-व्यवसायी का, सच्चे झूठे, लोमहर्षण रीति से, प्रकट हुआ था! परंतु स्वयं कुछ करना नहीं और लोग अग्रसर हों तो सोश्यल कांफ्रेंस न रोकने का दोष उनके मत्थे! खंडन करो, विरोध करो, परंतु स्थान मात्र पर से कांफ्रेंस को हटाकर क्या तुम तिलक बन सकते हो?"

**उनके संस्कृत-ज्ञान ने केवल शब्द के व्यावहारिक स्वरूपों और वाक्यों के सामूहिक विन्यास पर ही रंग नहीं जमाया है वरन्**

भाव-व्यंजना के उपयोग में भी उसी का बोलबाला है। इतिवृत्त के निवेदन में स्थान-स्थान पर प्राचीन वैदिक एवं पौराणिक पदों और प्रमाणों का प्रयोग इन्होंने अधिक किया है। उनके इस प्रसंग-गर्भत्व का आनंद उस पाठक को कदापि प्राप्त नहीं हो सकता जिसको उसके जड़-मूल का पता न हो। बात कहते-कहते वे एक ऐसे विषय का वर्णन करेंगे जिसक सीधा संबंध नैयायिकों से होगा। उस रोचकता का महत्व वह पाठक कदापि न समझेगा जिसने न्यायशास्त्र का अध्ययन नहीं किया अथवा उस सबंध-विशेष का उसे ज्ञान नहीं है। जैसे—"यह उस देश में जहाँ कि सूर्य का उदय होना इतना मनोहर था कि ऋषियों का यह कहते कहते तालू सूखता था कि सौ बरस इसे हम उगता देखें, सौ बरस सुनें, सौ बरस बढ़ बढ़कर बोलें, सौ बरस अदीन होकर रहें—सौ बरस ही क्यों सौ बरस से भी अधिक। भला जिस देश में बरस में दो ही महीने घूम फिर सकते हों और समुद्र की मछलियाँ मारकर नमक लगाकर सुखाकर रखना पड़े कि दस महीने के शीत और अँधियारे में क्या खायँगे वहाँ जीवन से इतनी ग्लानि हो तो समझ में आ सकती है—पर, जहाँ राम के राज में 'अकृष्टपच्या पृथिवी पुटके पुटके मधु' बिना खेती किए फसलें पक जायँ और पत्ते पत्ते में शहद मिले, वहाँ इतना वैराग्य क्यों ?" लिखते-लिखते यदि प्रसंग आया है तो वे अपना वैदिक ज्ञान प्रकट करने में चूके नहीं। यहाँ तो प्रसंग के कारण एक विशेष अवांतर उपस्थित किया गया है! इस प्रकार के अवांतरों एवं प्रासंगिक कथाओं से उनके लेख भरे पड़े हैं। इनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि लेखक अध्यनशील तथा उदात्त पंडित है! पाठकों को यदि किसी स्थान पर इन अवांतरों के प्रासंगिक रूप का ज्ञान न हो सका तो लेख का वह भाग उनके लिये प्रायः निरर्थक ही समझना चाहिए। परंतु जिसने उसका वास्तविक प्रसंग-गर्भत्व समझा वह उसका पूर्ण आनंद भी उठता है।

साहित्यिक एवं ऐतिहासिक लेखों के अतिरिक्त गुलेरी जी ने अनेक सामाजिक तथा आलोचनात्मक लेख भी लिखे हैं। इन लेखों की भाषा-शैली सर्वथा भिन्न है। ऐसे लेखों के लिखते समय उनमें एक प्रकार का चलतापन और चुलबुलाहट दिखाई पड़ती है। भाव-व्यंजना अत्यंत रोचक और आकर्षक, वाक्य-विन्यास

में सरलता और संघटन तथा शब्द-चयन में विशेष सतर्कता और सामयिकता दिखाई पड़ती है। इन स्थानों पर मुहावरों का इतना सुंदर निर्वाह मिलता है कि कहीं-कहीं तो उनकी लड़ी सी गुथी दिखाई पड़ती है। उन्हीं मुहावरों पर अभिव्यंजना का सारा खेल आश्रित रहता है। भाषा के मुहावरेदार होने के अतिरिक्त वाक्यों का बिस्तार इतना कम और इतना गठित रहता है कि उसमें एक मनोहर आकर्षण मिलता है। जैसे—"बकौल शेक्सपियर के जो मेरा धन छीनता है वह कूड़ा चुराता है, पर जो मेरा नाम चुराता है वह सितम ढाता है। आर्य-समाज ने वह मर्मस्थल पर मार की है कि कुछ कहा नहीं जाता। हमारी ऐसी चोटी पकड़ी है कि सिर नीचा कर दिया; औरों ने तो गाँठ का कुछ न दिया, इन्होंने अच्छे अच्छे शब्द छीन लिए। इसी से कहते हैं 'मारेसि मोहिं कुठाउँ'। अच्छे अच्छे पद तो यों सफाई से लिए हैं कि इस पुरानी जमी हुई दूकान का दिवाला निकल गया !! लेने के देने पड़ गए !!!"

उनकी इस भाषा-शैली में अकृत्रिम वैयक्तिकता है। प्रधानतः उनके सभी सामाजिक और आलोचनात्मक लेख इसी प्रकार की शैली में लिखे गए हैं। इन लेखों की भाषा स्पष्ट और मिश्रित है। वाक्य विस्तार के विचार से प्रायः छोटे हैं। कथन-प्रणाली अधिकांश भाग में रोचक, विनोदपूर्ण एवं व्यंग्य से भरी-पूरी रहती है। इन लेखों के आरंभिक भाग इस बात का प्रमाण देते हैं कि लेखक ने बिषय को भली भाँति समझ लिया है और उसके आरंभ में विशेष विलंब नहीं लगाना चाहता। मुख्यतः आरंभिक अंशों में विनोदपूर्णता रहती है और समस्त लेख में एक व्यंग्यपूर्ण ध्वनि निकलती है। मार्मिक स्थलों पर भावभंगी भी विशेष आकर्षक हो जाती है। जैसे:—

"हम तो शिवदास जी गुप्त की इस नई खोज की प्रशंसा में मग्न हैं। क्या बात है ! क्या बढ़के बात निकाली है ! इधर हमारे हँसोड़ मित्र कह रहे हैं कि जालहंस-वालहंस कोई नहीं है—रोमन लिपि का चमत्कार है और संस्कृत-साहित्य न जाननेवालों की अँगरेजी या बँगला सूँघकर 'गवेषणापूर्ण' लेख लिखने की लालसा पूर्ण करके पाँचवें सवार बनने की धुन का परिहास मात्र दुष्परिणाम है। जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावली' प्रसिद्ध है। कवियों के समय निर्णय करने में बड़े काम की वस्तु है।

अँगरेजी में रोमन लिपि में जल्हण Jalhans ( षष्ठ्यंत प्रयोग ) लिखा हुआ था और पादरी नोढ्स साहब की दुलारी रोमन लिपि के तुफैल से और संस्कृत की जानकारी न होने से जालहंस का जाल बिन जाने रचा गया। जैसे कि 'सोनगरा' राजपूतों का नाम कर्नल टाड के राजस्थान में पढ़कर बंगाली अनुवादक ने सौ नगरों के स्वामी क्षत्रियों का जाति-नाम न समझकर अँगरेजी अक्षर और बंगालियों के गोल-गोल उच्चारण के भरोसे 'शनिग्रह' राजपूत कहकर अटकल लड़ाई कि सूर्य, चंद्रवंश की तरह 'शनिग्रह वंशी' राजपूत भी होंगे और मुरादाबादी अनुवादक ने भी हिंदी में बँगला की वही साढ़े साती शनिश्चर की दशा राजपूतों पर ढा दी। वैसे ही लेखक के मानस में जालहंस की किलोलें आरंभ हो गईं !!"[१]

जब हम हिंदी के उत्कृष्ट निबंध-लेखक तथा आलोचनात्मक प्रणाली के प्रौढ़ स्वरूप की स्थापना करनेवाले आचार्य पंडित रामचंद्र शुक्ल जी की भाषा-शैली का विवेचन करने बैठते हैं तब जर्मन आलोचक बफन के कथन—Style is the man himself—शैली लेखक का स्वयं व्यक्त स्वरूप है—का स्वभावतः स्मरण हो आता है। शुक्ल जी की व्यक्तिगत गंभीरता उनकी भाषा में व्याप्त रहती थी। उनकी भाषा संयत, परिष्कृत, प्रौढ़ तथा विशुद्ध होती थी; उसमें एक प्रकार का सौष्ठव विशेष प्राप्त होता था, जो संभवतः अन्य किसी भी लेखक में नहीं दिखाई पड़ा। उसमें गंभीर विवेचना, गवेषणात्मक चिंतन एवं निर्भ्रांत अनुभूति की पुष्ट व्यंजना सर्वदा वर्तमान रहती थी। साधारण निबंध में, आलोचनात्मक तथा अन्य लेखों में जहाँ भी देखें वहीं कुछ विशेष प्रकार का चमत्कार मिलेगा। कथन का यह चामत्कारिक ढंग शुक्ल जी ही का था। उसमें उनकी वैयक्तिकता की गहरी छाया दिखाई पड़ती थी। किसी स्थान से भी दस-पाँच पंक्तियाँ निकालकर अन्यत्र रख दी जायँ तो वे पुकारकर कहेंगी कि ये उस प्रौढ़ लेखनी की रचनाएँ हैं जिसने हिंदी गद्य की व्यापक और प्रौढ़तम उत्कृष्टता का वर्तमान रूप एक निर्दिष्ट स्थान पर स्थिर कर दिया था।

१० रामचंद्र शुक्ल

शुक्ल जी की शैली में वैयक्तिकता की छाप सर्वत्र ही प्राप्त होती है; चाहे वह निबंध-रचना हो चाहे आलोचनात्मक विवेचन। निबंधों में स्वच्छंदता का विशेष अवकाश होने के कारण भाव-

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

व्यंजना भी सरल हुई है। उनमें अपेक्षाकृत वाक्य कुछ बड़े हुए हैं; भाषा अधिक चलती और व्यावहारिक हुई है। यों तो इनकी रचनाओं में धारा-प्रवाह कुछ कम रहता है, परंतु निबंधों में इसका भी पूरा आनंद प्राप्त होता है। इस प्रकार की रचनाओं में विचार-शक्ति का अच्छा संघटन रहता है अतएव वाक्यों के रूप में बाहर जब इसका स्वरूप उपस्थित होता है तब उसमें आंतरिक और बाह्य भाव-व्यंजना में एक वैचित्र्यपूर्ण सामंजस्य दिखाई पड़ता है। एक के उपरांत दूसरे विचार क्रमशः इस प्रकार व्यक्त होते जाते हैं कि धीरे-धीरे विचारों की एक लड़ी बन जाती है। इन निबंधों में से यदि कोई एक वाक्य भी बीच में से निकाल लें तो समस्त भावमाला अस्त-व्यस्त हो इधर-उधर बिखर जायगी। इनकी रचना में शब्दा-डंबर से बचने की चेष्टा मिलती है और अभिप्राय-विहीन निरर्थक शब्दों का प्रयोग कहीं नहीं प्राप्त होता। बिना आवश्यकता के वाक्य पूरक "है" भी नहीं लिखा गया। व्यर्थ के शब्दों को लिखना शुक्ल जी की प्रकृति के विरुद्ध है। उनके विचार से थोड़े से थोड़े शब्दों में गंभीर से गंभीर भाषा और विचार व्यक्त करना उचित है। भावों के साथ-साथ वाक्य भी एक से एक नपे रहते हैं। इस प्रकार की रचनाओं में हमें वह दुरूहता नहीं मिलती जो शुक्ल जी की गवेषणात्मक विवेचनाओं में बहुधा प्राप्त होती है। इनकी निबंध-रचना इस बात का द्योतन करती है कि व्यावहारिक, सरल और बोधगम्य भाषा में किस प्रकार मानुषिक जीवन से संबद्ध विषयों पर विचार प्रकट किए जाते हैं। मुहावरों का प्रयोग शुक्ल जी ने अपनी इस प्रकार की रचनाओं में अवश्य किया है अतएव यह कथन कि "उनके लेखों की भाषा में कहावतों और मुहावरों का अभाव सा है" व्यापक नहीं माना जा सकता। हाँ, यदि आलोचनात्मक एवं गवेषणात्मक प्रबंधों में ये बातें नहीं मिलतीं तो यह स्वाभाविक ही है क्योंकि वहाँ भाषा की उछल-कूद भावों की गंभीरता से आक्रांत रहती है। इसके अतिरिक्त लेखक को इन निबंधों के लिखते समय भी यदि इस बात की आशंका होती है कि बात अभी सर्वथा स्पष्ट नहीं हुई तो वाक्य-समूह के अंत में आकर वह "सारांश यह कि लिखकर थोड़े में गुंफित विचारों को एकत्र कर देता है। जैसेः—

'जिस समाज की हम बुराई करते हैं, जिस समाज में हम अपनी

मूर्खता, धृष्टता आदि का प्रमाण दे चुके रहते हैं, उसके अंग होने का स्वत्व हम जता नहीं सकते, अतः उसके सामने अपनी सजीवता के लक्षणों को उपस्थित करते या रखते नहीं बनता—यह प्रकट करते नहीं बनता कि हम भी इस संसार में हैं। जिसके साथ हमने कोई बुराई की होती है उसे देखते ही हमारी क्या दशा हो जाती है? हमारी चेष्टाएँ मंद पड़ जाती हैं, हमारे ऊपर घड़ों पानी पड़ जाता है, हम गड़ जाते हैं या चाहते हैं कि धरती फट जाती और हम उसमें समा जाते। सारांश यह कि यदि हम कुछ देर के लिये मर नहीं जाते तो कम से कम अपने जीने का प्रमाण अवश्य समेट लेते हैं।"

"यदि किसी भावी आपत्ति की सूचना पाकर कोई एकदम ठक हो जाय, कुछ भी हाथ-पैर न हिलाए तो भी उसके दुःख को साधारण दुःख से अलग करके भय की संज्ञा दी जायगी। पर यदि किसी मित्र के आने की सूचना पाकर हम चुपचाप आनंदित होकर बैठे रहें वा थोड़ा हँस भी दें तो वह हमारा उत्साह नहीं कहा जायगा। हमारा उत्साह तभी कहा जायगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठकर खड़े हो जायँगे, उससे मिलने के लिये चल पड़ेंगे और उसके ठहरने इत्यादि का प्रबंध करने के लिये प्रसन्नमुख इधर से उधर दौड़ते दिखाई देंगे।"

शुक्ल जी ने अधिक मननशील साहित्य की उद्भावना की है। परंतु अपने गंभीर विषयों पर विवेचनात्मक अथवा व्याख्यात्मक रूप में लिखते-लिखते यदि कहीं अवसर मिला है तो वे व्यंग्यात्मक छींटे अवश्य मारते गए हैं अथवा विनोदपूर्ण उक्ति-वैचित्र्य उपस्थित करते गए हैं। दुरूह विवेचना के बीच-बीच में इस प्रकार की रचना एक विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न करती है। जब कभी गंभीर विचारों से जी ऊब उठता है तब मनबहलाव की इच्छा का उदय स्वाभाविक ही है। इस प्रकार व्यंग्यात्मक छींटों के लिये उन्होंने उर्दू के शब्दों और मुहावरों का प्रायः आश्रय लिया है। इन उर्दू शब्दों का प्रयोग सदैव तत्सम रूप में ही हुआ है। बाबू श्यामसुंदरदास जी की भाँति शब्दों को अपनाने का विचार इनका नहीं ज्ञात होता। गवेषणात्मक प्रबंधों के बाहर तो इन्होंने उर्दू शब्दों का प्रयोग यथास्थान कुछ न कुछ अवश्य किया है अतएव यह कहना कि इनकी रचना में न्यूनातिन्यून प्रयोग हुआ है, केवल भ्रामक ज्ञात होता है; क्योंकि प्रयोग अवश्य हुआ है और अच्छी

तरह हुआ है। इन्होंने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में "तारीफ़", "चीज़", "ज़रूरी", "मज़ाक़" इत्यादि चलते शब्दों का व्यवहार प्रचुर मात्रा में किया है। ऐसे स्थलों की शैली अधिक व्यावहारिक और चलती हुई है; क्योंकि उन्हें अपनी शैली को अधिक बोधगम्य बनाने की लालसा थी। इसके अतरिक्त वे उर्दू पदों का भी प्रयोग करते हैं; परंतु यह उन्हीं स्थानों पर जहाँ कुछ विनोदपूर्ण व्यंग्य अभिप्रेत होता है। उस प्रकार की रचना-प्रणाली में बड़ा सौष्ठव दिखाई पड़ता है।

"हवा से लड़नेवाली स्त्रियाँ देखी नहीं तो कम से कम सुनी तो बहुतों ने होंगी चाहे उनकी ज़िंदः-दिली की क़द्र न की हो।"

"एक बात ज़रा और खटकती है। वह है उनका भाषा के साथ मज़ाक़। कुछ दिन पीछे इन्हें उर्दू लिखने का शौक हुआ—उर्दू भी ऐसी-वैसी नहीं उर्दू-ए-मुअल्ला। इसी शौक के कुछ आगे-पीछे इन्होंने राजा शिवप्रसाद का जीवन-चरित्र लिखा जो 'सरस्वती' के आरंभ के तीन अंकों में निकला। उर्दू ज़बान और शेर सखुन की बेढंगी नकल से, जो असल से कभी कभी साफ अलग हो जाती है, उनके बहुत से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है। ग़लत या ग़लत मानी में लाए हुए शब्द भाषा को शिष्टता के दर्जे से गिरा देते हैं। खैरियत यह हुई कि अपने सब उपन्यासों को यह मँगनी का लिबास नहीं पहनाया है।"

इसके अतिरिक्त स्था-थान पर व्यंग्यात्मक दो-एक वाक्य लिखकर अपनी धारणा व्यक्त करना शुक्ल जी भली भाँति जानते थे। इस प्रकार के वाक्य जैसे चिकोटी काटते हों और उनमें अप्रत्यक्ष रूप में परिहासपूर्ण वैदग्ध्य वर्तमान रहता है; जैसे:—

"इसमें नायक को कहीं बाहर, वन, पर्वत आदि के बीच नहीं जाना पड़ा है। वह घर के भीतर ही लुकता, छिपता, चौकड़ी भरता दिखाया गया है।" "यदि कटाक्ष से उँगली कटने का डर है तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिये छुरी, हँसिया आदि की कोई ज़रूरत न होनी चाहिए।" अथवा—"बिहारी की नायिका जब साँस लेती है तब उसके साथ चार क़दम आगे बढ़ जाती है। घड़ी के पेंडुलम् की सी दशा उसकी रहती है।" "इसी प्रकार उर्दू के एक शायर साहब ने आशिक़ को जूँ या खटमल का बच्चा बना डाला।"

शुक्ल जी के पूर्व वास्तव में आलोचनात्मक प्रबंध प्रायः कम

लिखे गए थे। यदि लिखे भी गए थे तो भाव और भाषा दोनों के विचार से वे उत्कृष्ट नहीं कहे जा सकते। वास्तव में साहित्यालोचन की विश्लेषात्मक, परिपुष्ट एवं व्यापक परिपाटी इन्होंने ही आरंभ की है। आरंभ करने में उतना बड़ा काम नहीं हुआ जितना कि उसके अनुकूल भाषा-विधान एवं परिष्कार में। इन्होंने आलोचनात्मक भाषा का केवल निर्माण ही किया हो—यह बात भी नहीं है। इन्होंने उसकी सम्यक् व्यवस्था भी कर दी है। इस प्रकार की भाषा में इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि अब इस विषय में भी उत्तमोत्तम ग्रंथों का निर्माण हो सकता है। हिंदी-साहित्य में इस प्रकार की संयत और विशद विवेचना संभव है, इसका प्रमाण देते हुए जो इन्होंने एक प्रकार की शैली विशेष का रूप स्थिर किया है उसके लिये हिंदी भाषा सदैव उनकी कृतज्ञ रहेगी। इस प्रकार की रचनाओं की भाषा बड़ी ही सतर्क एवं प्रौढ़ हुई है। किसी विषय का कितना सुंदर तथा प्रभावात्मक विवेचन और प्रतिपादन हो सकता है, इससे यह बात स्पष्ट प्रकट हो जाती है।

"लोक के मंगल की आशा से उनका हृदय परिपूर्ण और प्रफुल्ल था। इस आशा का आधार थी वह मंगलमयी ज्योति जो धर्म के रूप में जगत् की प्रातिभासिक सत्ता के भीतर आनंद का आभास देती है, और उसकी रक्षा द्वारा अपने सत् का—अपने नित्यत्व का—बोध कराती है। लोक की रक्षा "सत्" का आभास है, लोक का मंगल "परमानंद" का आभास है। इस व्यावहारिक सत् और आनंद का प्रतीक है 'राम-राज्य' जिसमें उस मर्यादा की पूर्ण प्रतिष्ठा है जिसके उल्लंघन से इस सत् और आनंद का आभास भी व्यवधान में पड़ जाता है। पर यह व्यवधान सब दिन नहीं रह सकता। अंत में सत् अपना प्रकाश करता है, इस बात का पूर्ण विश्वास तुलसीदास जी ने प्रकट किया है।"

"अतः केशव, बिहारी आदि के साथ ऐसे कवि को मिलान के लिये रखना उसका अपमान करना है। केशव में तो हृदय का पता ही नहीं है। वह प्रबंध-पटुता भी उनमें नाम को नहीं जिससे कथानक का संबंध-निर्वाह होता है। उनकी रामचंद्रिका फुटकल पद्यों का संग्रह मात्र जान पड़ती है। वीरसिंहदेवचरित से उन्होंने अपनी हृदय-हीनता की ही नहीं प्रबंध-रचना की भी पूरी असफलता दिखा दी है। बिहारी रीति ग्रंथों के सहारे जबरदस्ती जगह निकाल-निकालकर दोहों के भीतर शृंगार रस के विभाव,

अनुभाव और संचारी ही भरते रहे। केवल एक ही महात्मा और हैं जिनका नाम गोस्वामी जी के साथ लिया जा सकता है और लिया जाता है। वे हैं प्रेम-स्रोत-स्वरूप भक्तवर सूरदास जी। जब तक हिंदी-साहित्य और हिंदी-भाषी हैं तब तक सूर और तुलसी का जोड़ा अमर है। पर, जैसा दिखाया जा चुका है, भाव और भाषा दोनों के विचार से गोस्वामी जी का अधिकार अधिक विस्तृत है। न जाने किसने यमक के लोभ से यह दोहा कह डाला—

'सूर सूर तुलसी ससी, उड़गन केशवदास'

यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार रखनेवाला हिंदी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एकमात्र यही उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारती-कंठ, भक्त चूड़ामणि 'गोस्वामी तुलसीदास।''

ज्यों-ज्यों साहित्य में नवीन विषयों का अध्ययन-अध्यापन बढ़ता जायगा, त्यों-त्यों नवीन प्रकार की रचनाओं की आवश्यकता बढ़ती जायगी। इन रचनाओं में नवीन भावनाओं और विचारों का खंडन-मंडन रहेगा। अतएव शैली-विशेष की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त नवीन शब्दों का भी निर्माण होगा। हिंदी-साहित्य में अब नित्य नवीन विषयों की चर्चा बढ़ रही है। इस चर्चा के साथ ही साथ भाषा, शैली और शब्द-निर्माण पर भी ध्यान दिया जा रहा है। कुछ लोग तो शब्द-निर्माण किसी निश्चित सिद्धांत के बिना ही करते हैं। वस्तुतः वे इसके अधिकारी नहीं होते। इस बात की चेष्टा करना या तो उनकी शक्ति से परे होता है अथवा केवल प्रमादवश इस विषय का विचार ही नहीं करते कि वास्तव में नवीन शब्द-रचना की कोई आवश्यकता है अथवा नहीं। जब तक अपनी भाषा में उसी का पर्याय अथवा उससे मिलता-जुलता कोई शब्द उपस्थित हो तब तक हमें नवीन शब्द गढ़ने की चेष्टा न करनी चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से ये गढ़े हुए शब्द न तो निश्चित अर्थ ही बोधित कर सकेंगे और न उनका व्यापक प्रसार ही हो सकेगा। एक नवीन जंतु की भाँति वे सन्मुख खड़े हो जायँगे। अतएव अधिक समीचीन यही है कि अपनी ही भाषा के प्राचीन भूले हुए शब्दों का पुनरुद्धार कर उन्हें पुनः व्यवहार-क्षेत्र में उतारें। इस प्रकार हम अव्यावहारिकता से बचे रहेंगे और साथ ही अपने प्राचीन भाषा-कोश की उपेक्षा भी न करेंगे।

जिस प्रकार शुक्ल जी ने अन्य विभागों में अपनी उद्भावना-

शक्ति का परिचय दिया है उसी प्रकार शब्द-निर्माण के संसार में भी वे प्रमुख दिखाई पड़े। इसका उन्हें कोई खास शौक नहीं था। परंतु उन्हें अपने विषय-साम्राज्य के विस्तार-भार से आक्रांत होकर विवश होना पड़ता था। ऐसी अवस्था में नवीन कल्पनाओं, नवीन शैली एवं शब्द-कोश की ढूँढ़-ढाँढ़ अनिवार्य हो जाती थी। शुक्ल जी ने अनेक शब्दों का निर्माण भी किया है और साथ ही अनेक शब्दों का पुनरुद्धार भी। "विश्व-प्रपंच" की भूमिका में अनेक विज्ञानों और दर्शनों की चर्चा है जिनमें बहुत से नवीन निर्मित शब्दों के अतिरिक्त अनेक पारिभाषिक शब्द भारतीय शास्त्रों से लेकर प्रयुक्त हुए हैं। उन्हें शब्द-निर्माण के अतिरिक्त नवीन विषयों के निदर्शन एवं प्रतिपादन के लिये एक शैली-विशेष का स्वतंत्र रूप खड़ा करना पड़ा है। इस प्रकार की शैली को हम शुद्ध गवेषणात्मक कह सकते हैं। इसमें भावों की दुरूहता के साथ ही साथ भाषा भी अपेक्षाकृत क्लिष्ट तथा गंभीर हो गई है।

"ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत क्रियमाण है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थिर (Static) सौंदर्य और स्थिर मंगल कहीं नहीं; गत्यात्मक (Dynamic) सौंदर्य और गत्यात्मक मंगल ही है; पर सौंदर्य की गति भी नित्य और अनंत है और मंगल की भी। गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है। सौंदर्य और मंगल वास्तव में पर्याय हैं। कलापक्ष से देखने में जो सौंदर्य है, वही धर्मपक्ष से देखने में मंगल है। जिस सामान्य काव्य-भूमि पर प्राप्त होकर हमारे भाव एक साथ ही सुंदर और मंगलमय हो जाते हैं उसकी व्याख्या पहले हो चुकी है। कवि मंगल का नाम न लेकर सौंदर्य ही का नाम लेता है और धार्मिक सौंदर्य की चर्चा बचाकर मंगल ही का जिक्र किया करता है। टाल्स्टाय इस प्रवृत्ति-भेद को न पहचानकर काव्य-क्षेत्र में लोक-मंगल का एकांत उद्देश्य रखकर चले इससे उनकी समीक्षाएँ गिरजाघर के उपदेश के रूप में हो गईं। मनुष्य मनुष्य में प्रेम और भ्रातृभाव की प्रतिष्ठा ही काव्य का सीधा लक्ष्य ठहराने से उनकी दृष्टि बहुत संकुचित हो गई, जैसा कि उनकी सबसे उत्तम ठहराई हुई पुस्तकों की विलक्षण सूची से विदित होता है। यदि टाल्सटाय की धर्म भावना में व्यक्तिगत धर्म के अतिरिक्त लोकधर्म का भी समावेश होता तो शायद उनके कथन में इतना असामंजस्य न घटित होता।"

इस प्रकार हमने देख लिया कि शुक्ल जी की भाषा सदैव भाव-निदर्शन के अनुरूप हुई है। जिस स्थान पर जैसा विषय था वैसी ही भाषा प्रयुक्त हुई है। ज्यों-ज्यों विषय की गहनता और उत्कृष्टता उन्नति पाती गई है त्यों-त्यों भाषा के रूप-रंग में भी परिवर्तन होता गया है। भाषा और शैली को अपने भावानुकूल बना लेना बड़े दक्ष लेखक की प्रतिभा का काम है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात जो हम व्यापक रूप में पाते हैं वह यह है कि उनकी शैली से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक के एक-एक वाक्य में विचारों का संसार अंतर्निहित है। वाक्य का एक भी शब्द व्यर्थ नहीं रखा गया है। इनकी भाषा बड़ी संघटित और प्रांजल हुई है; क्योंकि विचार उसमें कस-कसकर परंतु स्पष्टता से भरे गए हैं। कहीं से लचरपन नहीं प्रकट होता। इन्हीं कारणों से जिस स्थान पर गवेषणापूर्ण विषय का प्रतिपादन हुआ है, संभवतः कुछ अंशों में दुरूहता दिखाई पड़ती है। वाक्यों की साधारण बनावट में उन्होंने कहीं से विषमता नहीं उत्पन्न होने दी है—चाहे भाषा का धारावाहिक रूप कुछ बिगड़ हो क्यों न गया हो। यह सब होते हुए भी हम यह देख चुके हैं कि जितना प्रौढ़ उत्कर्ष—भाषा और विचार दोनों का—हमें इनमें मिला है किसी भी दूसरे लेखक में नहीं प्राप्त होता।

व्यावहारिक समीक्षा और सैद्धांतिक वितर्क के क्षेत्र में स्वर्गीय पं० रामचंद्र शुक्ल का स्थान बड़े महत्व का है। उनकी प्रेरणा और संचालन से हिंदी के इस वर्तमान समीक्षा युग का बहुत कुछ निर्माण हुआ है। उनकी स्थापित की हुई पद्धति, भाषा-विधान और विवेचना का मार्ग आज आदर्श बनकर न जाने कितने आलोचकों की साहित्यिक गतिविधि का नियंत्रण कर रहा है। उन्हीं के दिखाए हुए मार्ग का अनुसरण आज भी हो रहा है। इस विचार से शुक्ल जी को वर्तमान युग का निर्माता मानना चाहिए।

पंडित पद्मसिंह शर्मा की आलोचनात्मक पद्धति—एक की विशेषता की परख दूसरे की विशेषताओं को दिखाकर करना—यह प्रकट करती है कि लेखक का अधिकार दोनों आलोच्य कवियों पर समान है। इस प्रकार तुलनात्मक आलोचना का जो आकर्षक रूप शर्मा जी ने हिंदी-साहित्य में उपस्थित किया है वह वस्तुतः नवीन

२१ पद्मसिंह शर्मा

और स्तुत्य है। स्तुत्य वह इस विचार से है कि उसने एक नवीन अनुभूति को लिखित रूप दिया है। इस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता थी। इसके उपस्थित होते ही अन्य सुंदर तुलनात्मक आलोचनाएँ लिखी गईं। किसी विषय का आरंभ उद्भावना-शक्ति का परिचायक होता है। इस विचार से शर्मा जी का स्थान बड़े ही महत्त्व का समझना चाहिए।

जब हम उनकी भाषा-शैली पर विचार करते हैं तब हमें उसमें वैयक्तिकता की गहरी छाप दिखाई पड़ती है। उनकी आलोचनात्मक रचना में से यदि चार पंक्तियाँ भी निकालकर बाहर रख दी जायँ तो उनकी चटक-मटक डंके की चोट कहेगी कि वे शर्मा जी की विभूति हैं। उनकी बनावट, [illegible], लपक-झपक में भी कारीगरी छिपी रहती है। इस प्रकार की शैली अपने ढंग की निराली है। उर्दू-हिंदी का इतना रुचिकर और अभिन्न संमिश्रण पहले नहीं दिखाई पड़ा था। उर्दू समाज की 'वल्लाह', 'वल्लाह', 'क्या खूब' 'क्या, खूब', का आनंद अभी तक नहीं आया था। कथन का यह आकर्षक और उत्साहमय रूप कभी-कभी बड़ा ही चमत्कारपूर्ण होता है। परंतु यह उर्दूवाला ढंग सब जगह अच्छा नहीं होता। इसका प्रभाव क्षणिक होता है। 'वाह', 'वाह', 'बाज़ी मार ले गए', 'ग़ज़ब कर दिया है' इत्यादि की धूमधाम में आलोचना का सौम्य विवेचन बिगड़ जाता है। चमत्कारपूर्ण होते हुए भी वह प्रभावात्मक नहीं होता। इस विचार से शर्मा जी की शैली तथ्यातथ्य-निरूपण के योग्य कदापि नहीं मानी जा सकती। उसमें एक प्रकार का हलकापन दिखाई पड़ता है जो वास्तव में गंभीर आलोचनात्मक प्रबंधों के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। गवेषणात्मक अध्ययन के उपरांत इस प्रकार की उच्छृंखल भाषा में विचार-वितर्क का संयत प्रकाशन नहीं हो सकता। यदि हो भी तो वह अत्यंत अस्वाभाविक ही ठहरेगा। आलोचना का जो दिव्य रूप पंडित रामचंद्र जी की भाषा में देखा जाता है उसका एक अंश भी इसमें नहीं मिलता। आलोचना वस्तुतः मनन का विषय है। जो बात गंभीर मनन के उपरांत मुख से निकलेगी उसकी विचार-धारा संयत एवं विशुद्ध होगी तथा उसकी भाषा में स्थिरता और गंभीरता होगी। उस भाषा में

लखनवी उछल-कूद और हाय-तोबा का जिक्र तथा "तू तू", "मैं मैं" अवश्य अच्छी नहीं हो सकती।

"बात बहुत साफ़ और सीधा है पर तो भी चमत्कार से खाली नहीं, इसका बाँकपन चित में चुभता है। बहुत ही मधुर भाव है।

पर बिहारीलाल भी तो एक ही 'काइयाँ' ठहरे। वह कब चूकनेवाले हैं, पहलू बदलकर मज़मून को साफ़ ले ही तो उड़े।

'अजौं न आए सहज रँग, विरह दूबरे गात'

वाह उस्ताद क्या कहने हैं। क्या सफ़ाई खेली है। काया ही पलट दी। कोई पहचान सकता है।"

"बात वही है, पर देखिए तो आलम ही निराला है। क्या तानकर 'शब्द-वेधी' नावक का तीर मारा है। लुटा ही दिया। एक 'अनियारे'-पन ने धवल कृष्ण पक्ष वाले सबको एक अनी की नोक में बाँधकर एक ओर रख दिया। और वाह रे "चितवन"! तुम्हारी चितवन की ताब भला कौन ला सकता है। फिर 'सुंदरी' और 'तरुणी' में भी कहते हैं कुछ भेद है। एक (सुंदरी) वशीकरन का खज़ाना है तो दूसरी (तरुणी) खान है। और 'सुजान' तो फिर कविता की जान ही ठहरा। इस एक पद पर तो एड़ी से चोटी तक सारी गाथा ही कुर्बान है।

'वह चितवन औरै कछू, जिहि बस होत सुजान।'

"लोहे की यह जड़ लेखनी इसकी भला क्या दाद देगी? भावुक सहृदयों के वे हृदय ही कुछ इसकी दाद देंगे जो इसकी चोट से पड़े तड़पते होंगे।"

"इस प्रकार बिहारीलाल जी इस मैदान में गाथाकार और केशवदास दोनों से बहुत आगे बढ़ गए हैं। क्या अच्छा संस्कार किया है, मज़मून छीन लिया है।"

"कितनी मनोहर रचना है, कितना मधुर परिपाक है। इन शब्दों में जितना जादू भरा है, उतना और कहीं है? और जो 'हरि जीवन-मूरि' ने तो बस जान ही डाल दी है, इस एक पद पर ही प्राकृत गाथा और पद्यावलि का पद्य, दोनों एक साथ कुर्बान कर देने लायक़ हैं।"

"बिहारी की सखी का परिहास बड़ा ही लाजवाब है, रसिक-मोहन सुनकर फड़क ही गए होंगे। इससे अच्छा, सच्चा, साफ, सीधा और दिल में गुदगुदी पैदा करनेवाला मीठा मज़ाक़ साहित्य-संसार में शायद ही हो।"

इस प्रकार की आलोचना इस बात को स्पष्ट कह देती है कि आलोचक के हृदय में भावुकता और गंभीर अनुभूति कम है। वह केवल शब्द-विन्यास से अथवा हँसा-खेलाकर पाठक-जगत् की तृप्ति करना चाहता है। सहृदयता की मार्मिक व्यंजना को यदि हम एक ओर रखकर सामान्य दृष्टि से विचार करते हैं तो शर्मा जी की भाषा में हमें एक विचित्र विनोदात्मक रूप मिलता है। हिंदी-उर्दू का यह संमिश्रित रूप हमें उसकी आलोचनात्मक विचार-धारा ही में नहीं वरन् अन्य प्रकार की रचनाओं में भी मिलता है। उसमें एक प्रकार की आनंदमयी प्रतिभा रहती है। किस विषय को किस प्रकार कहकर जी बहलाना होता है यह इनसे सीखना चाहिए। इसमें किस प्रकार की भाषा का उपयोग हो इसका विचार इन्हीं से सुनिए :—

"जिस भावहीन निर्जीव भाषा में नीरस कर्णकटु काव्यों की आज दिन सृष्टि हो रही है इससे सुरुचि संचार हो चुका। यह सहृदय समाज के हृदयों में घर कर चुकी। यह सूखी टहनी बहुत दिनों तक साहित्य संसार में खड़ी न रह सकेगी। कोरे कामचलाऊपन के साथ भाषा में सरसता और टिकाऊपन भी अभीष्ट है। विषय की दृष्टि से न सही भाषा के महत्त्वों की दृष्टि से भी देखिए तो शृंगार रस के प्राचीन काव्यों की उपयोगिता कुछ कम नहीं है। यदि अपनी भाषा को अलंकृत करना है तो इस पुरानी काव्यवाटिका से—जिसे हज़ारों चतुर मालियों ने सैकड़ों वर्ष तक दिल के खून से सींचा है—सदाबहार फूल चुनने ही पड़ेंगे। काँटों के भय से रसिक भौंरा पुष्पों का प्रेम नहीं छोड़ बैठता, मकरंद के लिये मधुमक्खिकाओं को इस चमन में आना ही होगा; यदि वह इधर से मुँह मोड़कर 'सुरुचि' के ख़याल में स्वच्छ आकाश-पुष्पों की तलाश में भटकेंगी तो मधु की एक बूँद से भी भेंट न हो सकेगी। हमारे सुशिक्षित समाज की 'सुरुचि' जब भाषा-विज्ञान के लिये उसी प्रकार का विदेशी साहित्य पढ़ने की आज्ञा खुशी से दे देती है तो मालूम नहीं अपने साहित्य से उसे ऐसा द्वेष क्यों है ?"

जिन स्थानों पर विचार कुछ अधिक प्रबल होते हैं उन स्थानों पर स्वभावतः उनकी भाषा अधिक संयत एवं वाक्य-विन्यास अधिक प्रभावशाली होता है। उनके भाव-प्रकाशन में भी एक प्रकार का ओज रहता है। उससे यह समझ पड़ता है कि उनका प्रयत्न सदैव इस बात पर रहता है कि एक-एक वाक्य तीर का काम करे। यही कारण है कि दुरूहता नहीं आने पाती। शर्मा जी व्यंग्य का
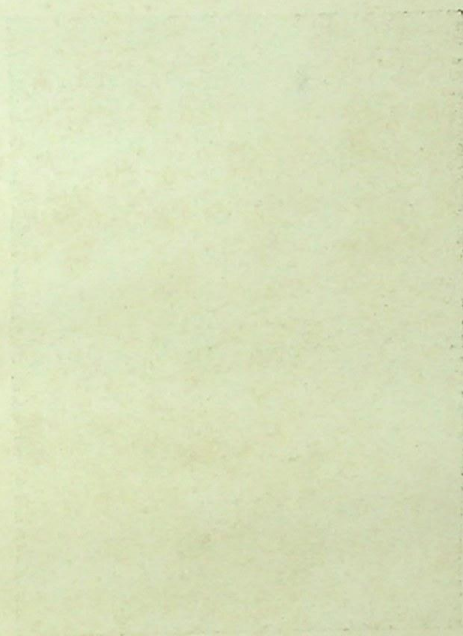
जयशंकरप्रसाद

बड़ा ही सुंदर और आकर्षक उपयोग करते हैं। इन व्यंग्यों के लिये उन्हें शब्द भी अच्छे और मर्मस्पर्शी मिल जाते हैं। इनके व्यंग्यात्मक निबंधों को पढ़ने से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि लेखक मन में कुढ़ा है। इससे रचना में जान आ जाती है।

"हमारे हिंदी के नवीन कवियों की मति गति बिलकुल निराली है। वह कविता की गाड़ी के धुरे और पहिए भी बदल रहे हैं। अपने अद्भुत छकड़े के पीछे की ओर मरियल टट्टू जोतकर गंतव्य पथ पर पहुँचना चाहते हैं। प्राचीनों का कृतज्ञ होना तो दूर रहा, उनके कोसने में भी अपना गौरव समझा जाता है; प्राचीन शैली का अनुसरण तो एक ओर रहा, जान-बूझकर अनुचित रीति से उसका व्यर्थ विरोध किया जाता है। भाषा, भाव और रीति में एकदम अराजकता की घोषणा की जा रही है। यह उन्नति का नहीं, मनोमुखरता का लक्षण है। इससे कविता का सुधार नहीं, संहार हो रहा है। सुधार उसी ढंग से होना चाहिए, जिसका निर्देश महाकवि हाली ने किया है और जिसके अनुसार उर्दू के नवीन कवियों ने अपनी कविता को सामयिकता के मनोहर साँचे में ढालकर सफलता प्राप्त की है।"

यों तो नाटकों के प्रणयन का प्रारंभ बाबू हरिश्चंद्र के समय से ही हो गया था, परंतु उस काल के नाटकों में न तो वैसी रचना पद्धति की सुसंपूर्णता ही थी और न मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण ही। इसके अतिरिक्त वस्तु-संकलन भी साधारण होता था। उसमें न तो लक्ष्य-विशेष की सिद्धि ही रहती थी, न नवीनता ही। आगे चलकर जब से बाबू जयशंकर प्रसाद ने नाटक-रचना प्रारंभ की तब से हिंदी-साहित्य में एक नवीन युग आरंभ हुआ। इनके नाटक भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास एवं सभ्यता का चित्र संमुख उपस्थित करते हैं। उनमें चरित्र-चित्रण का उत्कृष्ट विधान तो मिलता ही है, साथ ही मानवीय हृदय की विविध भावनाओं का सुदर विवरण और सामयिक प्रगति का अच्छा चित्र भी मिलता है। इन नाटकों की भाषा भी वस्तु के अनुकूल ही है। इसमें न तो उर्दू की शब्दावली ही मिलती है, न शैली ही। साथ ही हम यह भी नहीं कह सकते कि संस्कृत की दुरूह समासांत पदावली का ही उपयोग किया गया है। साधारणतः भाषा भाव और विषय के अनुरूप और विशुद्ध हुई है। विषय और काल के

जयशंकर प्रसाद

अनुसार स्थान-स्थान पर विशिष्ट वर्ग के वैशेषिक शब्दों के प्रयोग प्राप्त होते हैं। ऐसे प्रयोग प्रकृतत्व के विचार से सुंदर ज्ञात होते हैं।

कथोपकथन की शैली अधिकतर मनोवैज्ञानिक हुई है। जिस प्रकार क्रमशः भावावेश बढ़ता जाता है उसी प्रकार भाषा भी धारावाहिक होती गई है; और जिस भाँति के विचार हैं उसी प्रकार की कर्कश एवं मधुर भाषा का प्रयोग भी देखा जाता है। जैसे—"मनसा, मैं जाती हूँ। वासुकि से कह देना कि यादवी सरमा अपने पुत्र को साथ ले गई। मैं अपने सहजातियों के चरण सिर पर धारण करूँगी, किंतु इन हृदयहीन उद्दंड बर्बरों का सिंहासन भी पैरों से ठुकरा दूँगी।" अथवा "माँ, मुझे अत्याचार का प्रतिशोध लेने दो। मैं पिता के पास जाऊँगा। मुझे आज्ञा दो। मैं मनसा के हाथों का विषाक्त अस्त्र बनूँ; उसकी भीषण कामना का पुरोहित बनूँ। क्रूरता का तांडव किए बिना मैं न जी सकूँगा। मैं आत्मघात कर लूँगा।" इत्यादि। ऐसे भावात्मक कथन में स्वभावतः वाक्य छोटे-छोटे हुए हैं। इनसे भावों की परिपक्वता एवं दृढ़ता उद्बोधित होती है। 'प्रसाद' जी की रचनाओं में प्रायः मुहावरों की न्यूनता पाई जाती है, परंतु भाषा और भाव-व्यंजना में लचरपन नहीं आने पाया है। वस्तुतः उन लेखकों को मुहावरों और कहावतों की आवश्यकता पड़ती भी नहीं जिनका ध्यान अधिकतर विषय के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर रहता है।

भाषा-सौष्ठव का जो परिष्कृत रूप हमें 'प्रसाद' जी की रचना में प्राप्त होता है वह स्तुत्य है। इस सौष्ठव में मनोहरता रहती है और ओज एवं माधुर्य का चामत्कारिक उपयोग दिखाई पड़ता है। यों तो धाराप्रवाह सभी स्थानों पर मिलता है, परंतु विशेषतः उन स्थानों पर जहाँ भावावेश रहता है। हृदय में जिस समय भावनाओं का वेग बढ़ जाता है उस समय शीघ्रता से उनका शाब्दिक स्वरूप ग्रहण करना कठिन हो जाता है। इस अवसर पर यदि लेखक सिद्धहस्त न हो तो उनके प्रकाशन में दुरूहता उत्पन्न हो जाती है। इस दुरूहता का किंचित् मात्र प्रभाव भी 'प्रसाद' जी की व्यंजना में नहीं प्राप्त होता है। वरन् ऐसे स्थानों पर वे छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा और शिष्ट एवं सुंदर पदावली का आश्रय लेकर बड़ा

रोचक विवरण देते हैं। एक-एक वाक्य का जोड़-तोड़ इतना अच्छा चलता है कि भाषा में जान पड़ जाती है। एक वाक्य दूसरे वाक्य को सहायता देने में सदैव तत्पर पाया जाता है। इससे धारा-प्रवाह का मनोहर निर्वहन होता है। जैसे: —

"(आप ही आप) बुलाओ, बुलाओ, उस वसंत को, उस जंगली वसंत को, जो महलों में मन को उदास कर देता है, जो मन में फूलों के महल बना देता है, जो सूखे हृदय की धूलि में मकरंद सींचता है। उसे अपने हृदय में बुलाओ, जो पतझड़ कर नई कोपल लाता है, जो हमारे कई जन्मों की मादकता में उत्तेजित होकर इस भ्रांत जगत् में वास्तविक बात का स्मरण करा देता है, जो कोकिल की तरह सस्नेह रुक-रुक आवाहन करता है, जिसमें विश्व भर के संमिलन का उल्लास स्वतः उत्पन्न होता है, एक आकर्षण सबको कलेजे से लगाना चाहता है, उस वसंत को, उस गई हुई निधि को लौटा लो। काँटों में फूल खिलें, विकाश हो, प्रकाश हो, सौरभ खेल खेले। विश्व मात्र एक कुसुम-स्तबक के सदृश किसी निष्काम के करों में अर्पित हो। आनंद का रसीला राग विस्मृति को भुला दे; सब में समता की ध्वनि गूँज उठे। विश्व भर का क्रंदन कोकिल की काकली में परिणत हो जाय। आम के बौरों में से मकरंद-मदिरा पान करके आया हुआ पवन सबके तप्त अंगों को शीतल करे।"

'प्रसाद' जी ने भाव-पद्धति के निदर्शन का एक चामत्कारिक रूप खड़ा किया है। इस विचार से उनका स्थान बड़े महत्व का है। उन्होंने छोटी-छोटी कहानियाँ लिखी हैं। इनकी कहानियों की भावभंगी ही निराली होती है। उनमें चमत्कार विशेष रहता है। उनके शीर्षक भी कुछ विलक्षण एवं नवीन होते हैं। यह विलक्षणता प्रायः इनकी सभी रचनाओं में मिलती है। कहानियों के भीतर इनका विषय-निर्वाचन, शब्द-चयन एवं गठन, तथा वाक्य-विन्यास इत्यादि सभी उपादान आ जाते हैं। इन कहानियों के शीर्षक 'आकाशदीप', 'स्वर्ग के खँडहर में', 'सुनहला साँप', 'रूप की छाया', 'प्रणयचिह्न', 'प्रतिध्वनि', 'हिमालय का पथिक', 'बनजारा' इत्यादि हैं, जिनमें विलक्षणता तथा चमत्कार का आभास मिलता है। शब्द-चयन के लाक्षणिक प्रयोग अधिकतर मिलते हैं और उनसे व्यंग्यात्मक ध्वनि निकलती है। उनके सहारे पाठक मानों इस स्थूल जगत् से कल्पना के स्वर्ग में जा पहुँचता है। इस

कौशल से लेखक पाठक-जगत् को उस स्वर्गीय विभूति की अनुभूति स्वभावतः करा देता है जिसका वह चित्र खींचना चाहता है। यदि वह ऐसा न करे तो उसका वस्तु-समीक्षण अशक्त रह जाय। "स्वप्न की रंगीन संध्या" तथा "स्वर्ण रहस्य के प्रभात" का आभास यदि वह न दे चुका रहेगा तो हम उसके स्वर्ग का यौवनपूर्ण उन्माद सहन न कर सकेंगे। उसकी "वन्य कुसुमों की झालरें सुख-शीतल पवन से विकंपित होकर चारों ओर झूल रही थीं। छोटे छोटे झरनों की कुल्याएँ कतराती हुई बह रही थीं। लता-वितानों से ढकी प्राकृतिक गुफाएँ शिल्प-रचना-पूर्ण सुंदर प्रकोष्ठ बनातीं, जिनमें पागल कर देनेवाली सुगंध की लहरें नृत्य करती थीं। स्थान स्थान पर कुंजों और पुष्प-शय्याओं का समारोह, छोटे छोटे विश्राम-गृह, पान-पात्रों में सुगंधित मदिरा, भाँति भाँति के सुस्वादु फल, फूलवाले वृक्षों के झुरमुट, दूध और मधु की नहरों के किनारे गुलाबी बादलों का क्षणिक विश्राम, चाँदनी का निभृत रंगमंच, पुलकित वृक्ष-फूलों पर मधुमक्खियों की भन्नाहट, रह-रहकर पक्षियों की—हृदय में चुभनेवाली—तानें, मणि-दीपों पर लटकती हुई मालाएँ; तिसपर सौंदर्य के छँटे हुए जोड़े—रूपवान बालक और बालिकाओं का हास-विलास, संगीत की अबाध गति में छोटी छोटी नावों पर उनका जल-विलास!" आदि वाक्यावली को हम मृत्यु-लोक निवासी किस प्रकार समझ सकेंगे?

इस चमत्कारवाद में एक बात और भी है। वह यह कि पाठक-वर्ग का चित्त शीघ्र अपने कथानक की ओर खींचने के लिये लेखक सदैव तत्पर दिखाई पड़ता है। यह अवतरण इस प्रकार का साक्षी है। इसी प्रकार का चमत्कारपूर्ण समारंभ 'प्रसाद' जी सदैव अपनी रचनाओं में रखते थे। पाठक के हृदय पर इसका बड़ा मार्मिक प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार का वर्णनीय विषय हो उसी प्रकार का आरंभ होने से उसको अनुकूल हृदय उपस्थित करने का अच्छा प्रोत्साहन मिल जाता है। यही कारण है कि कुशल नाट्यकार सदैव प्रभावात्मक समारंभ का आयोजन आवश्यक समझते हैं। इससे इधर-उधर अव्यवस्थित चित्त एकाग्र हो जाता है। इस चमत्कारवाद में विशेषता यह रहती है कि लेखक सदैव वास्तविकता की ओर भी झुका रहता है। इस झुकाव का प्रभाव उसके कथनोपकथन के

वाक्य-विन्यास पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है। साधारणतः नित्य के व्यवहार में हम जस प्रकार वाक्यों का उपयोग करते हैं अथवा बातचीत की झोंक में जिस भाँति हम वाक्यों की बनावट में उलट-फेर कर देते हैं उसी प्रकार 'प्रसाद' जी अथवा इस दल के सभी लेखक वास्तविकता का शुद्ध आभास देने के विचार से प्रायः वाक्यों की व्याकरण-संमत बनावट में उलट-फेर कर देते हैं। जैसे—"दुर्दांत दस्यु ने देखा, अपनी प्रतिभा में अलौकिक एक वरुण-बालिका !" "चलोगी चंपा ! पोतवाहिनी पर असंख्य धनराशि लादकर राज-रानी सी जन्मभूमि के अंक में ?" "प्रिय नाविक ! तुम स्वदेश लौट जाओ विभवों का सुख भोगने के लिये और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दुःख की सहानुभूति और सेवा के लिये।" "इतने में ध्यान आया, उस धीवर-बालिका का।" इस प्रकार का नाट्यात्मक कथनोपकथन स्थान-स्थान पर उनकी छोटी-छोटी कहानियों में भी रहता है।

इतिवृत्त का विधान ये बड़ो रुचिकर विधि से करते हैं। उसमें सजीवता के अतिरिक्त बड़ा सुंदर धारा-प्रवाह रहता है। कथनोपकथन और मानसिक चिंतन में तो प्रवाह का निर्वाह अवश्य ही हुआ है; साथ ही इतिवृत्त के विवरण में भी उसका उत्कृष्ट प्रसार प्राप्त होता है। ऐसे स्थानों पर प्रत्येक वाक्य में कर्ता स्पष्ट नहीं लिखा गया। उसका संस्थापन मन में स्वभावतः उपस्थित रहता है। यदि ऐसा न किया जाय तो विवरण धारावाहिक तो होगा ही नहीं बरन् समस्त वाक्य-समूह में रुकावट सी पड़ जायगी जिससे वाक्य की सरसता नष्ट हो जायगी। इस रूखेपन अथवा विशृंखलता से भाषा-सौष्ठव तो नष्ट हो ही जायगा, इसके अतिरिक्त भाव-व्यंजना का सम्यक् स्फुरण भी न हो सकेगा। 'प्रसाद' जी की सभी रचनाओं में इस प्रवाह का आनंद मिलता है। इस प्रवाह के साथ-साथ भावनाओं का चित्र सा उपस्थित हो जाता है। इस चित्र में मार्मिकता तथा सजीवता रहती है। जैसे :—

"सुदर्शन ने देखा सब सुंदर है। आज तक जो प्रकृति उदास चित्र बनाकर सामने आती थी, उसकी मोहिनी और मधुर सौंदर्य की विभूति को देखकर सुदर्शन की तन्मयता उत्कंठा में बदल गई। उसे उन्माद ले चला।

८

इच्छा होती थी कि वह समुद्र बन जाय। उसकी उद्वेलित लहरों से चंद्रमा की किरनें खेलें और हँसा करें। इतने में ध्यान आया उस धीवर की बालिका का। इच्छा हुई वह भी वरुण-कन्या सी चंद्र-किरणों से लिपटी हुई उसके विशाल वक्षःस्थल में विहार करे। उसकी आँखों में गोल धवल पालवाली नाव समा गई, कानों में अस्फुट संगीत भर गया। सुदर्शन उन्मत्त था। कुछ पद-शब्द सुनाई पड़े। उसे ध्यान आया मुझे लौटा ले जाने के लिये कुछ लोग आ रहे हैं। वह चचल हो उठा। फेनिल जलधि में फाँद पड़ा। लहरों में तैर चला।"

कितना स्वाभाविक और वास्तविक भावावेश है। यही कारण है कि भाषा भी स्वाभाविक और चलती हुई है। इसके अतिरिक्त उसमें काव्य का प्रौढ़तम स्वरूप लक्षित होता है। लेखक गद्य में पद्यात्मक अभिव्यंजना की अनुभूति कराता है।

इसके अतिरिक्त उन स्थानों पर भी जहाँ इतिवृत्त में भावावेश का प्रसार तनिक भी नहीं संमिलित रहता, व्यंजनात्मक अनोखापन उपस्थित रहता है। वाक्य-विन्यास सरल तथा स्पष्ट होते हैं। भाषा अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक एवं वाक्य-विस्तार संकुचित होता है। प्रत्येक वाक्य में कर्ता की आवश्यकता नहीं पड़ती। सर्वनाम आदि भी विशेष प्रयोजनीय नहीं समझा जाता। इन विचित्रताओं के रहते हुए भी इतिवृत्तात्मक कथन की सत्यता प्रमाणित की जाती है—"पहाड़ जैसे दिन बीतते ही न थे। दुःख की सब रातें जाड़े की रात से भी लंबी बन जाती हैं। दुखिया तारा की अवस्था शोचनीय थी। मानसिक और आर्थिक चिंताओं से वह जर्जर हो गई। गर्भ के बढ़ने से शरीर से भी कृश हो गई। मुख पीला हो चला। अब उसने उपवन में रहना छोड़ दिया, चाची के घर में जाकर रहने लगी। वहाँ सहारा मिला। खर्च न चल सकने के कारण वह दो-चार दिन बाद एक वस्तु बेचती, फिर रोकर दिन काटती। चाची ने भी उसे अपने ढंग पर छोड़ दिया। वहीं तारा टूटी चारपाई पर पड़ी कराहा करती।"

'प्रसाद' जी की संपूर्ण गद्य-रचना की शैली में भावुकता, कल्पना और उक्ति-वैचित्र्य ही प्रमुख है। एक शब्द में कहा जा सकता है कि उनकी भाषा में काव्य-तत्व की ही विशिष्टता दिखाई पड़ती है।

श्री प्रेमचंद

भावभंगिमा और विषय उपस्थित करने के अतिरिक्त अलंकार और अप्रस्तुत-विधान में भी काव्योचित अलौकिकता का प्रसार मिलता है। साधारण उपमानों से 'प्रसाद' का काम नहीं चलता था। वे बिना दूर की कौड़ी लाए मानते नहीं थे। काव्य-रचना में तो यह विभूति की भाँति रमणीय प्रतीत होती है पर गद्य के क्षेत्र में यही विषय को भार-युक्त बनाने का कारण बन जाती है। 'मैं एक अतींद्रिय जगत् की नक्षत्रमालिनी निशा को प्रकाशित करने-वाले शरच्चंद्र की कल्पना करता हुआ भावना की सीमा को लाँघ जाऊँ।' अथवा 'तुम्हें मैंने अपने यौवन के पहले ग्रीष्म की अर्ध-रात्रि में आलोकपूर्ण नक्षत्रलोक से कोमल हीरक-कुसुम के रूप में आते देखा।' इत्यादि कथनों में जो दूर की उड़ान है वह 'प्रसाद' के अलंकार-विधान की मुख्य विशेषता है। यह उनके नाटक, कहानी सभी में एक रूप से वर्तमान रहता था।

यों तो 'प्रसाद' जी की भाषाशैली में व्याकरण की च्युति और चिंत्य प्रयोग भी मिलते हैं पर एक बात निर्विवाद है; गद्य-शैली का इतना सुंदर काव्योचित परिष्कार अन्य किसी भी लेखक में नहीं मिला। भाषा की यही प्रांजलता उनके लिखे हुए विचारपूर्ण निबंधों में भी दिखाई पड़ती है। यहाँ विषयानुसार पारिभाषिक पदावली का प्रयोग कम पर काव्यानुकूल पदावली का स्वरूप अधिक दिखाई पड़ेगा। निबंधों में प्रवाह कुछ कम और विचार-वितर्क की उलझन कुछ अधिक बढ़ी हुई मिलती है। अच्छा हुआ इस प्रकार के निबंध कम ही लिखे गए।

नाटक-रचना के क्षेत्र में जो पद और प्रतिष्ठा स्वर्गीय 'प्रसाद' जी को प्राप्त हुई वही स्वर्गीय प्रेमचंद जी को उपन्यास के क्षेत्र में मिली।

२३ प्रेमचंद जी

अमर कृतियों के द्वारा अपने समय का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व प्रेमचंद जी ने किया है। जो काम इस प्रभविष्णुता के साथ राष्ट्र के इतिहासकार न कर सकते उसी कार्य का संपादन इतने अनुरंजनकारी ढंग से उन्होंने किया है कि काल-दर्शन की उपयोगिता के आधार पर उनकी रचनाएँ जीती रहेंगी—पढ़ी जायँगी और समाज का उपकार करती रहेंगी। उनमें सभी राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक, तथा

व्यक्तिगत एवं जातिगत चित्र अपने-अपने स्वरूप की सुस्पष्टता से अमर बने रहेंगे। यों तो उपन्यास-रचना का आरंभ बाबू हरिश्चंद्र ही के समय से हो गया था, किंतु वह केवल उद्गम मात्र था क्योंकि उस समय तक न तो भाषा में परिपक्वता आई थी और न मनोवैज्ञानिक रीति से भावानुशीलन की ही उद्भावना हुई थी जो अवस्था नाटकों की थी वही उपन्यासों की भी थी। इधर आकर उपन्यासों में भी मनोवैज्ञानिक भाव-व्यंजना के अतिरिक्त चरित्र-चित्रण आदि रचना के विभिन्न अवयवों की ओर लोगों का ध्यान गया है। इस पद्धति-विस्तार का श्रेय इसी मौलिक उपन्यास-लेखक को दिया जा सकता है। इनकी कृतियों में वस्तु, भाव-प्रतिष्ठा, भाषा, चरित्र-चित्रण और कथनोपकथन—सभी की प्रौढ़ता है। इस विचार से ये हिंदी-साहित्य में प्रथम उत्कृष्ट मौलिक उपन्यासकार हैं। "मनुष्य की अंतःप्रकृति का जो विश्लेषण और वस्तु-विन्यास की जो अकृत्रिमता इनके उपन्यासों में मिली, वह पहले और किसी मौलिक उपन्यासकार में नहीं पाई गई थी।"

पर इनकी साहित्य-रचना का आरंभिक काल बड़ा चिंताजनक था। यों तो उस काल की विचित्रताएँ उसी रूप में अंत तक चलती रही हैं, परंतु वे नहीं के बराबर हो गई थीं। जिस समय उन्होंने छोटी-छोटी कहानियों का लिखना आरंभ किया था उस समय भाषा का लचरपन और भावशोधन का अभाव तो था ही, इसके अतिरिक्त व्याकरण की सामान्य भूलें भी होती रहती थीं और प्रांतीयता का भद्दा स्वरूप स्थान-स्थान पर मिलता था। "वे······**समझें** कोई यात्री होगा। "कल नहीं **पड़ता था**", "कुँवर और कुँवरियाँ", चौकीदार और लौंड़ियाँ सब सिर **नीचे** किए दुर्ग के स्वामी के सामने उपस्थित थे।" "कस्बे के लड़के **लड़कियाँ** स्वेत थालियों में दीपक लिए मंदिर की ओर **जा रहे थे**।" 'मैं जवाब **देते** हैं।" "मनसा, वाचा, कर्मणा **से** सिर झुकाया।" "देशहितैषिता **के उमंग में**", "हम लोगों से जो भूल-चूक हुई वह **क्षमा किया जाय**।" इत्यादि। इसके अतिरिक्त ये कुछ अव्यवस्थित, अप्रयुक्त एवं प्राचीन शब्दों का भी स्वतंत्रता से व्यवहार करते थे। जैसे, "फुरता फुरती",

"निरंग", "डोलीं", "झैंक नैत", "रवादार", "सप्तधारा", "गुजरान", "अबके" इत्यादि। 'शांत' के स्थान पर अधिकतर "शांति" लिखते थे। विरामादिक चिह्नों का भी उपयुक्त प्रयोग नहीं कर पाते थे। बिना बात समाप्त किए ही विराम का चिह्न दे बैठते थे। जैसे— "जिस भाँति सितार की ध्वनि गगन-मंडल में प्रतिध्वनित हो रही थी। उसी भाँति प्रभा के हृदय में लहरों की हिलोरें उठ रही थीं।" इस प्रकार के अनेक अवतरण उपस्थित किए जा सकते हैं। 'ही' का प्रयोग भी सदैव अनुचित हुआ करता था। इससे कभी कभी अर्थ-बोध में आघात लगता था। "ये सब काँटे मैंने बोए ही हैं",— वस्तुतः लेख का अभिप्राय यहाँ पर उस अर्थ से है जो 'ही' को "मैंने" के उपरांत रखने से निकलता है। इन त्रुटियों के रहते हुए उस समय भी मुहावरेदानी गजब की होती थी। उर्दू में हाथ मँजे रहने के कारण इन्होंने मुहावरों का बड़ा उपयुक्त उपयोग किया है। कहीं-कहीं तो इन्होंने मुहावरों की झड़ी लगा दी है। लगातार मुहावरों से ही वाक्य पूरे होते गए हैं। "उस समय गिरधारीलाल का चेहरा देखने योग्य होगा। मुँह का रंग बदल जायगा, हवाइयाँ उड़ने लगेंगी, आँखें न मिला सकेगा। शायद मुझे फिर मुँह न दिखा सके।" इत्यादि। मुहावरों का प्रयोग इसीलिये होता है कि कथन में घनत्व, मार्मिकता और व्यावहारिकता उत्पन्न हो। इसके अतिरिक्त इस व्यावहारिकता के साथ गति और प्रवाह में वह चलतापन आ जाता है जो कम से कम कथा-साहित्य का प्राण है। मुहावरेदार भाषा का आदर्श रूप प्रेमचंद की रचनाओं में प्राप्त होता है। हिंदी में प्रचलित मुहावरे दो कोटि के हैं; एक तो वे हैं जो उर्दू-रूप के द्वारा हिंदी को प्राप्त हुए हैं और दूसरे वे जो शुद्ध हिंदी के हैं। इनमें दोनों ही प्रकार के मुहावरों का अच्छा प्रसार पाया जाता है।

प्रेमचंद जी की आरंभिक रचनाओं में प्रौढ़ता न थी। उन कृतियों को देखकर यह आशा नहीं की जा सकती थी कि कुछ ही दिनों में उनमें आकाश-पाताल का अंतर हो जायगा। उस समय न तो उनकी भाषा ही संयत होती थी और न भाव-व्यंजना ही। वाक्यों की छोटाई पर ध्यान देने से यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि वे इसलिये छोटे नहीं होते थे कि भाव अधिक स्पष्ट हों वरन् वे लेखक की भीरुता के कारण ऐसे लिखे जाते थे। उस समय ये बड़े-बड़े वाक्यों के संबंध-

क्रम का निर्वाह ही नहीं कर सकते थे। यही कारण है कि उस समय की भाषा में शिथिलता दिखाई पड़ती है। एक-एक वाक्य में भाव टुकड़े-टुकड़े होकर रखे मिलते हैं। वाक्य-समूह असंबद्ध और धारा-प्रवाह छिन्न-भिन्न होता था। इनके मुहावरों के सुंदर प्रयोग से भले ही सजीवता उत्पन्न हो जाती रही हो, परंतु इनकी लेख-चातुरी की सराहना कदापि नहीं की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त उस समय की लिखी कहानियों में भाव का प्रौढ़ और संश्लिष्ट रूप भी नहीं मिलता। भाव-व्यंजना में अपरिपक्वता स्पष्ट झलकती है। चरित्र-चित्रण में भी वह मनोवैज्ञानिक विवेचन और उतार-चढ़ाव नहीं मिलता। तत्कालीन रचनाओं में जहाँ कहीं भी संस्कृत-तत्समता की ओर वे झुकते थे वहाँ का बनावटी प्रयोग यह दिखाता था कि एक मौलवी पंडित बनना चाहता है। इसका तात्पर्य केवल यह है कि उनके संस्कृत शब्दों के प्रयोग में अपनापन न था। भाषा साधारणतः उखड़ी मालूम पड़ती थी। उस समय की एक कहानी का छोटा सा अवतरण देखिए :—

"हमारे पहलवानों में वैसा कोई नहीं है, जो उससे बाजी ले जाय। मालदेव की हार ने बुँदेलों की हिम्मत तोड़ दी है। आज सारे शहर में शोक छाया हुआ है। सैकड़ों घरों में आग नहीं जली। चिराग रोशन नहीं हुआ। हमारे देश और जाति की वह चीज़ अब अंतिम स्वास ले रही है, जिससे हमारा मान था। मालदेव हमारा उस्ताद था। उसके हार चुकने के बाद मेरा मैदान में आना धृष्टता है। पर बुँदेलों की साख जाती है तो मेरा सिर भी उसके साथ जायगा। क़ादिर खाँ बेशक अपने हुनर में एक ही है, पर मेरा मालदेव कभी उससे कम नहीं। उसकी तलवार यदि उसके हाथ में होती तो मैदान ज़रूर उसके हाथ रहता। ओरछे में केवल एक तलवार है जो क़ादिर खाँ की तलवार का मुँह मोड़ सकती है। वह भैया की तलवार है। अगर तुम ओरछे की नाक रखना चाहती हो तो उसे मुझे दे दो। यह हमारी अंतिम चेष्टा होगी। यदि अबके हार हुई तो ओरछे का नाम सदैव के लिये डूब जायगा।"

इन त्रुटियों का क्रमशः परिमार्जन होता गया। भाव-व्यंजना का जो प्रौढ़ रूप उनकी रचना में पीछे चलकर दिखाई पड़ा वह कुछ ही काल पूर्व इस प्रकार का था यह आश्चर्य-जनक है। इस प्रकार की आध्यवसायिक उन्नति कम देखने में आती है। उनकी

उस समय की त्रुटियाँ संस्कारजन्य थीं अतएव अंत तक उनका कुछ न कुछ आभास मिलता ही था पर वे विशेष खटकती नहीं थीं। उन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों में चमत्कार का विशेष उपयोग नहीं किया। उनका आरंभ सदैव इतिवृत्तात्मक कथानक से होता था। जिस नवीनता एवं चमत्कार का दर्शन हमें 'प्रसाद' जी की रचनाओं में हुआ था ठीक उसके विपरीत प्रेमचंद की अवस्था थी। उनकी भाव-व्यंजना में काव्य-कल्पना का उल्लास दिखाई पड़ता था पर इनकी रचना मृत्यु-लोक की व्यावहारिक सत्ता का चित्र थी। उनकी भाषा में उन्मुक्त उन्माद एवं विशुद्धता दिखाई पड़ती थी, परंतु इनकी शैली में भाषा का व्यावहारिक चलतापन विशेष उल्लेखनीय था। उनके कथानक का समारंभ कुतूहल और चमत्कार के साथ स्वाभाविकता का आधार लेकर उत्पन्न होता था और इनका जगत् की स्थूल विवेचना एवं नित्य की अनुभूतियों के आश्रय पर खड़ा होता था। एक स्वर्ग का आह्लादपूर्ण यौवन था और दूसरा हमारे साथ दिन-रात रहनेवाला मृत्यु-लोक का सहचर। एक में हम प्रकृति का मनोरम शृंगार पाते थे, दूसरे में मानव-जीवन की सहचरी समीक्षा। एक हमें स्वर्गीय मधुरता का प्रतिबिंब दिखाता था और दूसरा वास्तविक संसार का चित्र।

इनकी शैली का विवेचन करते समय एक बात स्पष्ट सामने आती है। वह यह कि अपने विचारों को स्थूल बनाने के लिये उन्होंने सदैव 'जैसे', 'तैसे', 'मानो' का प्रयोग किया है। इससे उनका तात्पर्य केवल कथित विषय को अधिक बोधगम्य बनाने की चेष्टा ही ज्ञात होती है। कहीं कहीं तो यह अत्यंत स्वाभाविक और उपयुक्त प्रतीत होता है। इससे भाव-व्यंजना अधिक सुंदर हो गई है। परंतु अनेक स्थानों पर अस्वाभाविक एवं अप्रयोजनीय भी ज्ञात होता है। इस आलंकारिक पद्धति का अनुसरण करने में यही तो अड़चन उपस्थित होती है कि यदि यह वास्तविकता का सीमोल्लंघन कर गई तो सुंदर के स्थान पर अप्रयोजनीय ही नहीं वरन् अरुचिकर भी हो जाती है। जैसे—"व्याकुल हो गई—जैसे दीपक को देखकर पतंग; वह अधीर हो उठी—जैसे खाँड़ की गंध पाकर चींटी। वह उठी और द्वारपालों, चौकीदारों, की दृष्टियाँ बचाती हुई राजमहल के बाहर निकल आई जैसे वेदनापूर्ण क्रंदन सुनकर आँसू निकल

आते हैं।" "जैसे चाँदनी के प्रकाश में तारागण की ज्योति मलिन पड़ गई थी, उसी प्रकार उसके हृदय में चंद्ररूपी सुविचार ने विकार-रूपी तारागण को ज्योतिर्हीन कर दिया था।" "जिस प्रकार अरुण का उदय होते ही पक्षी कलरव करने लगते हैं और बछड़े किलोलों में मग्न हो जाते हैं, उसी प्रकार सुमन के मन में भी क्रीड़ा करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई।" "जब युवती चली गई तो सुभद्रा फूट-फूटकर रोने लगी। ऐसा जान पड़ता था मानो देह में रक्त ही नहीं, मानो प्राण निकल गए हैं। वह कितनी निः-सहाय, कितनी दुर्बल, इसका आज अनुभव हुआ। ऐसा मालूम हुआ मानों संसार में उसका कोई नहीं है। अब उसका जीवन व्यर्थ है। उसके लिये अब जीवन में रोने के सिवा और क्या है। उसकी सारी ज्ञानेंद्रियाँ शिथिल सी हो गई थीं मानो वह किसी ऊँचे वृक्ष से गिर पड़ी हो।" "जैसे सुंदर भाव के समावेश से कविता में जान पड़ जाती है और सुंदर रंगों से चित्र में, उसी प्रकार दोनों बहनों के आ जाने से झोपड़े में जान आ गई। अंधी आँखों में पुतलियाँ पड़ गई हैं। मुरझाई हुई कली शांता अब खिलकर अनुपम शोभा दिखा रही है। सूखी हुई नदी उमड़ पड़ी है। जैसे जेठ-बैसाख की तपन की मारी हुई गाय सावन में निखर जाती है और खेतों में किलोलें करने लगती है, उसी प्रकार विरह की सताई हुई रमणी अब निखर गई है।"

कथोपकथन के क्रमिक विकास में इस बात की बड़ी आवश्य-कता होती है कि उस समय की वाक्य-योजना में वह स्वाभाविक भावभंगी हो जो वस्तुतः नित्य के व्यवहार में प्राप्त होती है। बात-चीत में प्रायः वाक्य का शुद्ध क्रम नहीं रह जाता। जैसे "आप जाइए, आपको क्या पड़ी है।" को साधारण कथोपकथन में कहा जायगा—"जाइए आप। क्या पड़ी है आपको।" इसी कारण वास्तविकतावादी अधिकतर नाट्य-प्रणाली का अनुसरण करते हैं। इस नाट्य-प्रणाली का अनुसरण 'प्रेमचंद' में नहीं प्राप्त होता। वे सीधे-सादे व्याकरण के निश्चित मार्ग का अवलंबन समीचीन समझते हैं। इससे कथोपकथन की भाषा शिथिल सी हो गई है। जिन स्थानों पर इन्होंने इस नाट्य-प्रणाली का अनुसरण किया है, वहाँ पर जीवन आ गया है; परंतु ऐसे स्थल न्यूनातिन्यून हैं।

'मानो उसका कोई है ही नहीं संसार में' न लिख वे सदैव सीधा-सादा रूप "मानो संसार में उसका कोई नहीं है" लिखते हैं। "युक्ति कोई ऐसी बताइए कि कोई अवसर पड़े तो मैं साफ़ निकल जाऊँ" ही लिखेंगे। इस प्रकार नाटकोपयोगी कथोपकथन प्रेमचंद की रचना में अधिक न मिलेगा। कहीं-कहीं जहाँ हृदय की धधकती अग्नि बाहर निकलने की चेष्टा करती है अथवा अधिक दिनों के संचित उद्गार जहाँ हृदय से वायु के प्रबल वेग की भाँति निकलना चाहते हैं वहाँ भाषा भी स्वभावतः संयत और आवेशपूर्ण हो उठी है। पर ऐसे स्थान हैं बहुत थोड़े; जैसे—"सुमन ने आँखें खोलीं और उन्मत्तों की भाँति विस्मित नेत्रों से शांता की ओर देखकर बोली, कौन शांति? तू हट जा, मुझे मत छू, मैं पापिनी हूँ, मैं अभागिनी हूँ, मैं भ्रष्टा हूँ, तू देवी है, तू साध्वी है, मुझसे अपने को स्पर्श न होने दे. इस हृदय को वासनाओं ने, लालसाओं ने, दुष्कामनाओं ने मलिन कर दिया है, तू अपने उज्ज्वल स्वच्छ हृदय को पास मत ला, यहाँ से भाग जा। वह मेरे सामने नरक का अग्निकुंड दहक रहा है, यम के दूत मुझे उस कुंड में झोंकने के लिये घसीटे लिए जाते हैं, तू यहाँ से भाग जा। यह कहते कहते सुमन फिर मूर्छित हो गई!"

यों तो इनकी सभी रचनाएँ इसी प्रकार की मिली-जुली भाषा में हुई हैं—उनमें हिंदी-उर्दू का परिमार्जित संमिश्रण हुआ है, परंतु कथोपकथन में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है। उसमें यदि बोलनेवाला मुसलमान है तो उर्दू की तत्समता और यदि हिंदू है तो संस्कृत की तत्समता अधिक प्रयुक्त हुई है। इनका यह विचार उचित है अथवा अनुचित, स्वाभाविक है या अस्वाभाविक इसका विवेचन यहाँ समीचीन न होगा अतएव केवल प्राप्त स्वरूप का ही विवेचन कराया जाता है। प्रेमचंद जी को जहाँ-कहीं अवसर प्राप्त हुआ है वहाँ इन्होंने प्रादेशिक अथवा जनपदीय भाषा का भी प्रयोग किया है। भाषा के अतिरिक्त वाक्य उनके साधारणतः छोटे-छोटे होते हैं। इनसे भाव-प्रकाशन में सुगमता अवश्य हुई है, परंतु धारा-प्रवाह में बड़ा विघ्न उपस्थित हुआ है। उनकी रचनाओं में—क्या उपन्यास क्या छोटी-छोटी कहानियाँ सब में—धारा-प्रवाह में बड़ा अवरोध पाया जाता है। भाव-व्यंजना बड़ी उखड़ी-

पुखड़ी ज्ञात होती है। एक-एक वाक्य एक-एक बात लेकर अलग-विलग खड़े सामने आते हैं। एक के साथ दूसरे का कोई सामंजस्य नहीं। यह बात विशेषतः उन स्थानों में प्राप्त होती है जहाँ उन्हें इतिवृत्तात्मक विवरण देना पड़ा है अथवा विषयोद्घाटन करना पड़ा है। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्हें विषयारंभ में बड़ी दुरूहता का सामना करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त इसका एक और कारण ज्ञात होता है। वह विषय का आकस्मिक आरंभ न होना है। प्रत्येक विषय के आरंभ में कुछ न कुछ भूमिका बाँधना प्राचीन परिपाटी का अनुगमन मालूम पड़ता है। यह विचार केवल प्राचीन कहकर ही नहीं टाला जा सकता। इसकी दूसरी दुर्बलता यह है कि इसमें वैसा आकर्षण भी नहीं रहने पाता। अँगरेजी साहित्य में स्कॉट के उपन्यासों में भी यह बात विशेष रूप से पाई जाती है। इससे पाठक का मन सहसा पाठ्य विषय में अनुरक्त नहीं होने पाता वरन् भूमिका की झाड़ी में ही उलझकर रह जाता है। इसी भूमिका भाग में प्रेमचंद की शैली विशेष उखड़ी जान पड़ती है। इन इतिवृत्तात्मक स्थलों में यदि नवीन और चमत्कारपूर्ण शैली को ग्रहण किया गया होता तो इतना रूखापन न आने पाता। साथ ही पाठकों का चंचल चित्त भी विषय की ओर अविलंब आकृष्ट हो जाता।

यह शिथिलता सर्वत्र हो, यह बात नहीं है। भाषणों में स्थान-स्थान पर, जहाँ हृदय की उथल-पुथल का मार्मिक चित्र अंकित किया गया है, वहाँ स्वभावतः भावों के उतार-चढ़ाव के साथ-साथ भाषा-शैली भी संयत एवं रोचक हो गई है। वहाँ उनके छोटे-छोटे वाक्य बड़े प्रभावशाली तथा आकर्षक हो गए हैं। इन स्थानों पर धारा-प्रवाह का भी सुंदर निर्वहन दिखाई पड़ता है। यों तो ऐसे स्थान अधिक नहीं हैं, पर जो हैं वे बड़े ही मनोहर हैं। एक-एक वाक्य दूसरे से गुथे हुए हैं। इसी प्रकार भाव भी एक लड़ी में गुंफित दिखाई पड़ते हैं। भावों के परिष्कार के साथ-साथ भाषा में वेग एवं आकर्षण भी बढ़ जाता है। ऐसे स्थानों पर वाक्य-समूह समाप्त किए बिना वाचक रुक ही नहीं सकता। जैसे :—

"मनोरमा अचानक तन्मय अवस्था में उछल पड़ी। उसे प्रतीत हुआ कि संगीत निकटतर आ गया है। उसकी सुंदरता और आनंद अधिकतर

प्रखर हो गया था--जैसे बत्ती उसका देने से दीपक अधिक प्रकाशमान हो जाता है। पहले चित्ताकर्षक था, तो अब आवेशजनक हो गया था। मनोरमा ने व्याकुल होकर कहा—आह! तू फिर अपने मुहँ से क्यों कुछ नहीं मंगता। अहा! कितना विराग-जनक राग है, कितना विह्वल करनेवाला। मैं अब तनिक भी धीरज नहीं धर सकती। पानी उतार में जाने के लिये जितना व्याकुल होता है, श्वास हवा के लिये जितनी विकल होती है, गंध उड़ जाने के लिये जितनी उतावली होती है, मैं उस स्वर्गीय-संगीत के लिये व्याकुल हूँ। उस संगीत में कोयल की सी मस्ती है। पपीहे की सी वेदना है, श्यामा की सी विह्वलता है, इसमें झरनों का सा ज़ोर है आँधी का सा वेग। इसमें सब कुछ है, जिसमें विवेकाग्नि प्रज्वलित, जिससे आत्मा समाहित होता है और अतःकरण पवित्र होता है। माँझी, अब एक क्षण का विलंब मेरे लिये मृत्यु की यंत्रणा है। शीघ्र नौका खोल। जिस सुमन की यह सुगंधि है, जिस दीपक की यह दीप्ति है, उस तक मुझे पहुँचा दे। मैं देख नहीं सकती, इस संगीत का रचयिता कहीं निकट ही बैठा हुआ है, बहुत ही निकट।"

( 'आत्म-संगीत' शीर्षक कहानी से )

प्रेमचंद जी ने जिस समाज का चित्र अंकित करने का बीड़ा उठाया था वह दीन था। उसमें स्वर्गीय उल्लास नहीं था, उसमें उच्च भावनाओं का उन्माद नहीं था, यही कारण था कि विशेषतः उन स्थानों पर जहाँ उन्हें कारुणिक अवस्था का वर्णन करना पड़ता था, वहाँ एक दीप्ति उत्पन्न हो जाती थी। हमारे व्यावहारिक संसार में दीनता का साम्राज्य है। उसमें नित्य-प्रति अधिकांश ऐसे उदाहरण प्राप्त होते रहते हैं, जिन्हें देखकर करुणा का उद्रेक हुए बिना नहीं रह सकता। दीन मनुष्यों का विवरण देते समय उनकी भाषा बड़ी मार्मिक और भाव-व्यंजना बड़ी ही द्रावक हो जाती थी। भाषा का अत्यंत चलता और व्यावहारिक रूप ही उन्हें प्रिय था। इसमें विषय के आग्रह का निर्वाह होता था और साथ ही हमारे जीवन की नित्य यथार्थता भी सुरक्षित रहती थी। बाबू देवकीनंदन खत्री की भाषा का इसे संस्कृत और परिमार्जित रूप समझना चाहिए। प्रेमचंद जी की प्रतिनिधि स्वरूप यही भाषा है। इसी का प्रयोग उन्होंने अधिकतर किया है :—

"यह सोचता हुआ वह अपने द्वार पर आया। बहुत ही सामान्य झोपड़ी

थी। द्वार पर एक नीम का वृक्ष था। किवाड़ों की जगह बाँस की टहनियों की एक टट्टी लगी हुई थी। टट्टी हटाई। कमर से पैसों की छोटी पोटली निकाली जो आज दिन भर की कमाई थी। तब झोपड़ी की छान में से टटोलकर एक थैली निकाली जो उसके जीवन का सर्वस्व थी। उसमें पैसों की पोटली बहुत धीरे से रक्खी जिसमें किसी के कान में भनक न पड़े। फिर थैली को छान में रखकर वह पड़ोस के घर से आग माँग लाया। पेड़ों के नीचे कुछ सूखी टहनियाँ जमा कर रक्खी थीं; उनसे चूल्हा जलाया। झोपड़ी में हल्का सा अस्थिर प्रकाश हुआ। कैसी विडंबना थी। कैसा नैराश्यपूर्ण दारिद्रय था। न खाट न बिस्तर, न बर्तन न भाँड़े। एक कोने में मिट्टी का एक घड़ा था, जिसकी आयु का अनुमान उसपर जमी हुई काई से हो सकता था। चूल्हे के पास हाँड़ी थी। एक पुरानी चलनी की भाँति छिद्रों से भरा हुआ तवा, और एक छोटी सी कठौत और एक लोटा। बस यही उस घर की सारी संपत्ति थी। मानव-लालसाओं का कितना संक्षिप्त स्वरूप था। सूरदास ने आज जितना नाज पाया था सब उसी हाँड़ी में डाल दिया। कुछ जव था, कुछ गेहूँ, कुछ मटर, कुछ चने, थोड़ी सी ज्वार और एक मुट्ठी भर चावल। ऊपर से थोड़ा सा नमक डाल दिया। किसकी रसना ने ऐसी खिचड़ी का मज़ा चक्खा है? उसमें संतोष की मिठास थी, जिससे मीठी संसार में कोई वस्तु नहीं। हाँड़ी चूल्हे पर चढ़ाकर वह घर से निकला। द्वार पर टट्टी लगाई और सड़क पर जाकर एक बनिए की दूकान से थोड़ा सा आटा और एक पैसे का गुड़ ले आया। आटे को कठौते में गूँधा और तब आध घंटे तक चूल्हे के सामने खिचड़ी का मधुर आलाप सुनता रहा। उस धुँधले प्रकाश में उसका दुर्बल शरीर और उसका जीर्ण वस्त्र मनुष्य के जीवन-प्रेम का उपहास कर रहा था।"

( 'रंगभूमि' से )

२४ राय कृष्णदास

राय कृष्णदास जो भाव-प्रकाशन की एक विचित्र शैली लेकर गद्य-साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। परोक्ष सत्ता की जो भावात्मक अनुभूति मानव-हृदय में होती है, उसकी व्यंजना इन्होंने बड़ी ही मार्मिक प्रणाली से की है। इस प्रकार से इस प्रणाली का इन्होंने शिलान्यास किया। अनुभूति के भावात्मक होने के कारण कल्पना का इन्होंने विशेष आधार रखा है। भावनाओं की गंभीरता के साथ-साथ इनकी भाषा में बड़ा संयम पाया जाता है। इतनी व्यावहारिक

श्री राय कृष्णदास

और नित्य की चलती फिरती, सीधी-सादी भाषा का ऐसा उपयोग किया गया है कि भावव्यंजना में बड़ी ही स्पष्टता आ गई है। इस भाषा को चलती-फिरती कहने का तात्पर्य केवल यह है कि तत्समता के साथ 'कलपते' और 'अचरज' ऐसे न जाने अन्य कितने शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त साधारण उर्दू के शब्द भी प्रयोग में आए हैं। यों तो स्थान-स्थान पर इन शब्दों के तत्सम रूप ही लिखे गए हैं, परंतु अधिकतर, तद्भव रूप तो एक ओर रहा, मुहावरों तक को हिंदी का झोंलगा पहनाया गया है। 'दिल का छोटा है' के स्थान पर उसका शुद्ध अनुवाद करके 'हृदय से लघुतर है" लिखा गया है। "उसका दिल नहीं तोड़ना चाहती थी" से कहीं अधिक उपयुक्त उन्हें 'उसका हृदय नहीं तोड़ना चाहती थी" जँचता है। कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जो या तो तद्भवता के कारण बिगड़ गए हैं अथवा उनका प्रांतीय प्रयोग हुआ है। जैसे 'साहुत', 'काँदने', 'कुघरता', 'ढकोसला', 'ढड्ढा', 'मँगते', 'कुंडी', 'राम मोटरिया', 'अवसत' इत्यादि। ऐसा करने के केवल दो कारण हो सकते हैं। एक तो पदावली की रमणीयता और दूसरा भाषा के चलतेपन का विचार। साथ ही 'सो' ( वह, इसलिये ), 'हौं' ( हो ), 'लौं' (तक) से जो पंडिताऊपन प्राप्त होता है वह भी केवल भाषा की सरसता एवं स्वाभाविकता के विचार से लिखा गया है। इन सब बातों को एक ओर रखकर हम यह देखेंगे कि ये सदैव वाक्यों को संपूर्ण करके ही छोड़ते हैं, चाहे ऐसा करना आवश्यक न भी हो। जैसे—"पर मैं अशांत, विचलित या भीत नहीं होता हूँ।" इस वाक्य में यदि 'हूँ' न भी रखा जाता तो भी वाक्य-पूर्ति में कोई बाधा न पड़ती। पर लेखक की शैली एवं प्रवृत्ति भी तो कोई वस्तु है।

अभिव्यंजना की इनकी भावात्मक शैली बड़ी मार्मिक तथा प्रौढ़ होती है। समासांत पदावली के बिना भी इतना सरस विवरण और बिना उत्कृष्ट शब्दावली का आश्रय लिए हुए भी इतना व्यापक एवं सुचारु रूप संभवतः अन्य स्थानों में न मिल सकेगा। उसमें उनकी वैयक्तिकता की छाप लगी हुई है। गूढ़ आत्मानुभूति का करुणात्मक और आकर्षक निवेदन कितना भावमय हो सकता है इसका सफल प्रमाण उन्होंने अपनी 'साधना' में दिखाया है। छोटे-छोटे वाक्यों का प्रभावशाली संमेलन अपूर्व ही छटा दिखाता

है। भाव-प्रकाशन के सरल, मनोहर, चलते ढंग का उदाहरण नीचे देखिए :—

"मैं अपनी मणि-मंजूषा लेकर उनके यहाँ पहुँचा पर उन्हें देखते ही उनके सौंदर्य पर ऐसा मुग्ध हो गया कि अपनी मणियों के बदले उन्हें मोल लेना चाहा। अपनी अभिलाषा उन्हें सुनाई। उन्होंने सस्मित स्वीकार करके पूछा कि किस मणि से मेरा बदला करोगे? मैंने अपना सर्वोत्तम लाल उन्हें दिखाया। उन्होंने गर्वपूर्वक कहा—अजी, यह तो मेरे मूल्य का एक अंश भी नहीं। मैंने दूसरी मणि उनके आगे रक्खी। फिर वही उत्तर। इस प्रकार उन्होंने मेरे सारे रत्न ले लिए। तब मैंने पूछा कि मूल्य कैसे पूरा होगा? वे कहने लगे कि तुम अपने को दो तब पूरा हो।"

"नदियों ने अपने खेलने का स्थान अपने जन्मदाता पहाड़ों की गोद में रक्खा है, जहाँ वे एक चट्टान से कूदकर दूसरी पर जाती हैं, जहाँ वे ढोकों के संग खेल कूद मचाती हैं और छींटे उड़ाती हैं तथा प्रसन्न होकर फेन-हास्य हँसती हैं, जहाँ वे अपनी ओर झुकी लता-अलियों का हाथ पकड़कर उन्हें अपने संग ले दौड़ना चाहती हैं, जहाँ उनके बाल-संघाती क्षुप अंकुरांगुलियों से गुदगुदाते हैं और वे तनिक सा उचककर तथा बंक होकर बढ़ जाती हैं, जहाँ वे लड़कपन में भोले-भाले मनमाने गीत गाती हैं और उनके पिता उनके प्रेम से उन्हें दुहराते हैं, और जहाँ वे पूरी ऊँचाई से वेग के साथ कूदकर गढ़ों में आती हैं और आप ही अपना दर्पण बनाती हैं।"

( 'साधना' से )

इन्होंने भावावेश की चामत्कारिक प्रणाली का अनुसरण किया है। इनकी रचना में भी हमें वही उल्लास एवं परिष्कार प्राप्त होता है जो प्रसाद जी की रचनाओं में मिलता था। इन्हें भी प्रेमचंद जी की व्यावहारिकता से काम नहीं। सांसारिक घटनाओं में ये अपने पाठकों को नहीं पड़े रहने देना चाहते। उन्हें वे कल्पना की स्वर्गीय विभूति का दर्शन कराना चाहते हैं—"कल्पना का लोक" जो ब्रह्मलोक से भी ऊपर है। यही कारण है कि "दीप्तिमान नीली यवनिका के आगे सहज सस्मित भगवान अमिताभ के दर्शन" मिलने पर "लौकिक प्रसन्नता का" काम नहीं रह जाता। यही कारण है कि उनकी 'आशा' भी रूपात्मक सत्ता धारण कर 'लावण्यवती' बन जाती है; "अतीत वर्तमान बनकर उसके सामने अभिनय करने" लगता है। उनकी आँखों से आँसू नहीं वरन् "ममता की दो

बूँद टपक" पड़ती है। "उस वीतराग की ममता ही उनका एकमात्र असबाब" बनता है। 'प्रातःकाल हुआ। सूर्य निकला।' कहना उन्हें पसंद नहीं। उनको तो "दिन का आगमन जानकर तमोभुजंगम उदयाचल की सुनहली कंदराओं में जा छिपा। जल्दी में उसका मणि छूट गया।" कहना ही रुचता है। 'उसके मन में धुँधले बादल की तरह भावना' उठती है। विषय-विचार की स्थूल अभिव्यक्ति में उनकी कोई अनुरक्ति नहीं दिखाई पड़ती।

इस प्रकार की भावावेशवाली शैली में यदि स्थान-स्थान पर वाक्य-विन्यास की ओर विशेष ध्यान न रखा जाय तो भाव-व्यंजना रूखी हो जाय। शब्दों के चामत्कारिक प्रयोगों के साथ पद-लालित्य का सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। तभी भाषा-माधुरी उत्पन्न होती है। इस माधुरी की भाव-प्रकाशिनी शक्ति उस स्थान पर और अधिक शक्तिशालिनी बन जाती है—वाक्यों की बनावट में उलट-फेर हो जाता है। "उत्कट इच्छा होती है, वहाँ चलने की।" "सम्राट् ने एक महल बनाने की आज्ञा दी – अपने वैभव के अनुरूप, अपूर्व, सुख और सुषमा की सीमा।" "कब मैं चला, कब प्रातःकाल का स्वागत पक्षियों के कोमल और मधुर कंठ ने किया, कब दोपहर की सूचना पवन की सनसनाहट ने दी, कब स्निग्ध पत्तियों को अपने करों का स्पर्श करके उन्हें अनुराग से किसलयों के सदृश बनाता हुआ सूर्य बिदा हुआ, मुझे कुछ मालूम नहीं। कब उसके बिदा होते ही नभस्सर में लाखों नलिनी खिल उठीं, कब चंद्रमुखी रजनी आई, इसका भी ज्ञान नहीं।" इसके अतिरिक्त ऊहात्मक विवरण भी आप बड़ा सुंदर देते हैं। उसमें स्वाभाविकता के साथ-साथ चमत्कार रहता है। "महाराज की अंगारे जैसी आँखें चित्र-कार को भस्म कर रही थीं।" "संध्या का शीतल समीर उसके उष्ण मस्तक से टकराकर भस्म हुआ जाता था। कुमार को बोध होता था कि सारा प्रासाद भूकंप से ग्रस्त है। अनेकानेक प्रेत-पिशाच उसे जड़ से उखाड़े डालते हैं। क्षितिज में संध्या-लालिमा नहीं, भयंकर आग लगी हुई है। प्रलय-काल में देर नहीं।" "एक तरुणी तपस्या कर रही थी—घोर तपस्या कर रही थी। उसकी तपस्या से त्रैलोक्य काँप उठा।" इत्यादि।

इनकी भाव-व्यंजना में अलंकारों के प्रयोग बड़े मनोहर और

प्रकृत हुए हैं। 'जैसे-तैसे' का एक रूप हम श्री प्रेमचंद जी की रचनाओं में पाते थे। उनका उपमान-जगत् व्यावहारिकता से सजीव बना रहता था, अतएव उनकी उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ भी नित्य के साधारण व्यवहार-क्षेत्र की होती थीं। परंतु राय कृष्णदास जी की उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं में असाधारण अनुभूति की व्यंजना एवं काल्पनिक विभूति का प्रकाशन होता है। उनकी भावात्मक विचार-शैली का प्रभाव इनके अलंकार-विधान पर भी पड़ा है। उनकी अनुभूतियाँ कितनी दिव्य एवं उत्कृष्ट हैं इसका पता इससे सरलता से लग जाता है। उनके इस आलंकारिक कथन से शैली दुरूह हो गई हो ऐसी बात भी नहीं है। उसमें भावों का इतना अच्छा परिष्कार हुआ है कि कथन-प्रणाली में महत्त्वपूर्ण आकर्षण उत्पन्न हो गया है। राय साहब की इस अभिव्यंजना-प्रणाली में उनकी प्रतिभा की प्रखरता एवं कल्पना की विशदता प्रत्यक्ष रूप में झलकती है। जैसे—"चिकनी निहाई में उस आभूषण की छाया, ब्राह्म मुहूर्त की धूसरता में ऊषा के प्रकाश की भाँति झलक रही थी।" "जिस प्रकार ज्वालामुखी के लावा का प्रवाह आँख मूँदकर दौड़ पड़ता है और उसके आगे जो पड़ता है, उसे ध्वस्त करता चलता है, उसी प्रकार राजकुमार का मानसिक आवेश भी अंधा होकर दौड़ रहा था।" "यदि प्रतप्त अंगार औचक शीतल पानी में पड़ जाय तो शतधा फट जाता है, उसी तरह उसके हृदय की दशा हो रही थी।" "महारानी उसी शकल में धड़धड़ाती हुई राजसभा में उतर आईं—पहाड़ी प्रवाह के वेग में दौड़नेवाली शिला की तरह!" "वह कन्या प्रभातवेला के ऐसी टटकी और कमनीय है तथा स्वाति की बूँद की तरह निर्मल, शीतल और दुर्लभ है।" "जिस प्रकार अचेतन यंत्र चेतन बनकर काम करने लगता है उसी प्रकार यह चेतन, अचेतन यंत्र होकर, अपनी धुन में लगा था।" "सम्राट् का स्वप्न विकीर्ण हो गया, जैसे गुलाब की पँखड़ियाँ अलग अलग होकर उड़-पुड़ जाती हैं।" "गुलाब की क्यारियाँ खिली हुई हैं। बीच-बीच में प्रफुल्ल बेले की बल्लियाँ हैं, मानो नवेली प्रकृति के सौंधे ओठों में दशन-पंक्ति दमक रही हैं।" "सुप्त बालक के मुहँ पर जिस प्रकार हँसी झलक जाती है उसी तरह दिन बीत गया। शिखर को जिस भाँति धीरे धीरे कुहरा आच्छादित करता है उसी भाँति

अँधेरा बढ़ने लगा।" "वह देखो समभूमि पर की नदियाँ और जंगल कैसे भले मालूम होते हैं। मानो वसुंधरा ने अपनी अलकों को मोतियों की लड़ों से अलंकृत किया है। क्षितिज में रंग-विरंगे बादल उसकी साड़ी की भाँति शोभित हो रहे हैं।" केवल भाव-व्यंजना के ऊहात्मक विवरण देने में ही उन्होंने इस आधार से काम नहीं लिया वरन् स्थान-स्थान पर भाव-शृंखला के बढ़ाने में भी इसका प्रयोग हुआ है। जैसे—"जिस समय तुम देखते हो कि विशालकाय गजराज किसी परम लघु उद्वेग से हारकर विचलित हो रहा है उस समय तुम उसके गंडस्थलों से मद बहाने लगते हो और वह प्रकृतिस्थ हो जाता है। उसी प्रकार जिस समय तुम देखते हो कि मेरा मन क्षुब्ध हो रहा है और क्रुद्ध सागर में पड़े पोत सी मेरी दशा हो रही है उस समय तुम मेरे आँसू बहाने लगते हो और मैं शांत हो जाता हूँ।" इत्यादि।

भाषा-शैली की विशेषताओं के साथ-साथ उनमें धारा-प्रवाह का अच्छा स्वरूप दिखाई पड़ता है। आकर्षक वह इस प्रकार होता है कि एक स्थान से पढ़ना आरंभ करने पर किसी स्थान विशेष पर ही जाकर प्रगति रुकती है। इससे शैली में दृढ़ गठन उत्पन्न होता है। वाक्य परस्पर संबद्ध होते हैं। एक वाक्य के पढ़ते ही आगामी वाक्य का आभास मस्तिष्क में स्वयं उपस्थित हो जाता है। वाक्य-विन्यास की सुंदरता इससे और भी उद्दीप्त हो गई है, क्योंकि शब्द-शोधन और चयन बड़ा ही उपयुक्त बन पड़ा है। यदि लेखक रूखे-सूखे इतिवृत्तात्मक स्थानों पर भी धारा-प्रवाह का निर्वाह कर लेता है तो और अन्य किसी स्थान पर उसकी इस विभूति की परीक्षा प्रयोजनीय नहीं। ऐसे स्थानों पर भी राय साहब की लेखनी बड़ा मार्मिक चित्र उपस्थित करती है। जैसे :—

अब स्वर्णकार के सामने एक स्वप्न का आविर्भाव हुआ। निद्रा के तमिस्र लोक में आलोक का संचार होने लगा। स्वर्णकार ने अपने को एक प्रभापूर्ण घाटी में पाया। चारों ओर छोटी छोटी टेकरियाँ थीं, उनपर हरियाली का अटल राज्य। वनस्पति जगत् के संग सूर्य की किरणें खेल रही थीं। सारी वनस्थली फूलों से लदी हुई थी। रंगों का मेला लग रहा था—वहीं प्रकृति का मीना-बाजार था। सौरभ का कोश खुला हुआ था। मधुप की टोलियाँ गुंजार कर रही थीं; पुष्पावलियों पर झूम रही थीं। इधर-

उधर चिड़ियाँ चहचहा रही थीं। बीच में एक स्वच्छ फेनिल क्षीण स्रोत कलकल करके बह रहा था। वसंत पवन धीरे धीरे चल रहा था। अटकता हुआ चल रहा था। पुष्पों की भीड़ में उसे मार्ग ही न मिलता था। वह एक भूलभुलैया में पड़ा हुआ था।" स्रोत के उस पार एक बाला अलस गति से घूम रही थी। वह इस पुष्प-समूह की आत्मा है क्या? उसका सारा शरीर पुष्पाभरणों से सजा है। हाथ में एक डोलची है जिसमें वह फूल चुन-चुनकर रख रही है। वह, जाने किस विचार में मग्न है, और उसी अन्य-मनस्क अवस्था में कोई गान गुनगुना रही है। वह निर्मलता, सुंदरता, वह पवित्र भाव, वह स्वर्गीय अस्फुट गान, सारे दृश्य में मिलकर क्या समा बाँध रहे हैं।" ('सुधांशु' से)

राय साहब की रचनाओं में "परोक्ष आलंबन के प्रति प्रेम-भाव का जैसा पुनीत उत्कर्ष है, उसी के अनुरूप मनोरम रूप विधान और सरस पद-विन्यास भी है।" इसी परोक्ष आलंबन का वैभव हम श्री वियोगी हरि की भी रचनाओं में पाते हैं। पर इस वैभव की प्रकाशन-प्रणाली में अंतर है, और यह अंतर साधारण नहीं है। जिन विशेषताओं का विवेचन हम राय साहब की भाष-शैली में कर चुके हैं उनको इनकी रचना में कहीं नहीं पाते। न वह कथन की सरल तथा व्यावहारिक विशदता है और न गूढ़ातिगूढ़ भावना का प्रकाश-चित्र ही प्राप्त होता है। इन दोनों लेखकों की भाषा-शैली में आकाश-पाताल का अंतर है। राय साहब भली भाँति समझते हैं कि यदि हृदय की मार्मिक ग्रंथियों को सीधे-सीधे न सुलझाया जायगा तो वे कदापि स्पष्ट न हो सकेंगी। उनके लिये दुरूह संस्कृत तत्समता आवश्यक नहीं। जिस समय हृदय में सरस—अथवा किसी प्रकार की—भावनाओं का उद्रेक होता है उस समय मस्तिष्क को इतना अवकाश नहीं रह जाता कि छाँट-छाँटकर अथवा गढ़-गढ़कर लंबी-चौड़ी समासांत पदावली का निर्माण कर सके। उस समय भावावेश का व्यावहारिक प्रकाशन ही स्वाभाविक एवं समीचीन है। यदि भाषा के अलंकरण अथवा लच्छेदार पदावली की छान-बीन के फेर में लेखक पड़ता है तो केवल भाव-प्रवाह की लड़ी ही न बिखर जायगी प्रत्युत् कृत्रिमता का आभास दिखाई पड़ने लगेगा।

५५ वियोगी हरि

पर जिसे गद्य-काव्य की पांडित्य-पूर्ण उद्भावना ही अभिप्रेत है उसे इन बातों से कोई प्रयोजन नहीं। अपने हृदय की भावनाओं को यथारूप पाठक के हृदय में उतार सके, इस बात की उसे विशेष चिंता नहीं। मानव-हृदय में अपने भावावेश की मधुर अनुभूतियों का प्रतिबिंब डालना भी उसे विशेष प्रयोजनीय नहीं ज्ञात होता। वह भाषा की उत्कृष्टता के लिये भाव-व्यंजना का बलिदान कर सकता है। वह अपनी भावनाओं का आकार-स्वरूप अलंकार से अत्यधिक सजाता है। उसके लिये यही सब कुछ है। उस शरीर में आत्मा है कि नहीं, वह कुछ बोलता है कि नहीं अथवा उसमें चेतना का प्रकाश है कि नहीं इसका पर्य्यालोचन करने वह नहीं बैठता। हमें वियोगी जी की रचनाओं में इसी भ्रांत प्रवृत्ति का परिपुष्ट प्रमाण मिलता है। उनकी अधिकांश भाव-व्यंजना दुरूह संस्कृत तत्समता लिए हुए समासांत पदावली में हुई है। कहीं-कहीं तो उनकी शैली बाण की कादंबरी से टक्कर लेने लगी है। जैसे :—

"जब मैं अति विशद निर्जन अरण्य में कलरव-कल-कलित सुललित झरनों का सुगति-विन्यास देखता हूँ, मंद स्रोतस्वती-सरित-तट-तरु-शाखा-विहरित-कलकंठी-कोकिल-कुहुक-ध्वनि सुनता हूँ, प्रभात-ओस-कण-झलकित-हरित-तृणाच्छादित-प्रकृति-परिष्कृत-बहु-वनस्पति-सुगंधित-सुखद-भूमि पर लेटता हूँ, तथा नाना-विहंग-पूर्ण-सुफलित-वृक्षावृत-गिरि-सुवर्ण-शृंग-शुभ्र-स्फटिकोपम-शिलासन पर बैठकर प्रकृति-छटा-दर्शनोन्मत्त-अर्धोन्मीलित-साश्रु-नयन द्वारा अस्तप्राय तप्त-काचन-वर्ण रवि-मंडल-भव-कमनीय-कांति की ओर निहारता हूँ, तब स्वभाव-सुंदर-लज्जावनत-अप्रकट-सुमन-सौरभ-रसिक-पवन आकर, श्रवण-पुट द्वारा तेरा विरहोत्कंठित प्रिय संदेश सुना जाता है।

"प्यारे, तू नित्य ही मेरे द्वार पर सघन-घन-तमाच्छन्न-कृष्ण-वसन-लसित-निशि-समय सुजन-मन-मोहिनी रसिक-रस-पोहिनी वेणु बजाता है; माधवी-मल्लिका-मकरंद-लोलुप-मलिंद-गुंजार-समुल्लसित, नवरस-पूरित, सुप्रेम-प्रतिभा-समुदित कवि-हृदय द्वारा स्वच्छंद-आनंद-कंद-संदेश भेजता है, और कभी कभी विरह-दग्ध-उर-निस्सरित-प्रेमाश्रु-वर्षण वा संयोग-गत-प्रगाढ़ालिंगन-रोम-हर्षण में अपनी सुप्रीति-मय झलक दिखा जाता है।" ('तरंगिणी' से)

वियोगी जी के संदेश की यह व्यंजना है। संभव है परमात्मा घट-घट-व्यापी होने के कारण इसे समझ ले और शीघ्र ही इसमें अंतर्निहित भावावेश की नस पकड़ ले परंतु साधारण जन इसकी

मार्मिकता का परिचय बिना पूरा बौद्धिक प्रयत्न किए नहीं पा सकता। बेचारा वाग्जाल के झाड़ी-झंखाड़ में ही अटका रह जायगा। उसके हृदय में स्थित पुष्प-पराग का आनंद-लाभ कदापि न कर सकेगा और लेखक के साधारण प्रमाद से उसकी मनोहर अनुभूतियों का सम्यक् अनुशीलन भी न कर सकेगा। वह गद्य-काव्य का रूप अवश्य देख लेगा परंतु उसमें भाव-प्रवणता का अंश भी है, इसका केवल प्रयत्नज अनुमान भर होगा। इस प्रकार की भाषा-शैली वस्तुतः अव्यावहारिक एवं भावनाओं की बोधगम्य व्यंजना में सर्वथा असमर्थ ही होती है। इसमें ललित पदावली होते हुए भी प्रसादगुण का पूरा ह्रास दिखाई पड़ता है। मधुरता भी रहती अवश्य है परंतु भावावेश की अनुभूति स्पष्ट न होने से वास्तविक भावव्यंजना का बोध नहीं होता।

इस संस्कृत शैली के अनुशीलन के कारण स्वभावतः भाषा स्थान-स्थान पर सानुप्रासिक दिखाई पड़ती है। यह अनुप्रास कृत्रिम नहीं वरन् प्रकरण-प्राप्त और अर्थ-व्यंजक होता है। "अपनी लाड़िलो लली की एक लीला और सुन लो। किसी तरह मैंने अपना मन-मानिक मानसी मंजूषा में बंद करके रख छोड़ा है।" "आपका सहज स्नेह तथा सरल स्वभाव मेरे हर्ष-हीन हृदय के जिस कठोर कोण में विराजित हुआ, वहाँ से अकथनीय आह्लाद के सुभग स्रोत बहने लगे। आपके स्तन्य दान से पुष्टि और तुष्टि की चरम सीमा का पूर्णानुभव हो गया। कर-कमल की छाया से मायामय आवरण हटाकर आज नितांत-निर्भयता-निरत निद्रा में जीवन-जागृति ज्योतिर्मयी कर रहा हूँ।" इस प्रकार के अनुप्रासों से यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि उनके आगमन के लिये लेखक को कष्ट नहीं उठाना पड़ा है। वे स्वाभाविक हैं अतएव सुंदर हैं।

नाटककार कथोपकथन में स्वाभाविकता उत्पन्न करने के लिये स्थान-स्थान पर वाक्य-रचना में कुछ उलट-फेर कर दिया करते हैं। व्यावहारिकता के विचार से भी यह आवश्यक है। आवेशपूर्ण भाषा-शैली में इसका बड़ा प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस प्रकार के उलट-फेर से आवेशपूर्ण कथोपकथन में यथार्थता उत्पन्न हो जाती है। वियोगी जी ने भी इसका उपयोग किया है। वाक्यों का यह उलट-फेर उस समय और भी अच्छा ज्ञात होता है जब लगातार कई

वाक्यों में इसका प्रयोग होता है। यदि भिन्न-भिन्न स्थानों पर एकाध वाक्य इस प्रकार के लिखे गए तो वे उतने सुंदर और मधुर न लगकर अस्वाभाविक एवं अप्रयोजनीय जान पड़ते हैं। इस प्रकार के प्रयोग से कोई चमत्कार-विशेष नहीं प्रकट होता। "परसों गुरुदेव ने जो कहा था," "हैं! भला देखो तो !!" "पर हैं यह सब आपके मनमोदक।" "स्वप्न-पटल पर अंकित सा दिखाई देता है आज तुम्हारा उपदेश !!", "पिला दो प्यारे! इन्हें अपने दर्शन का दो घूँट पानी!", "उड़ेल दो प्यारे! थोड़ा सा सौंदर्य-मधु इन उन्मत्त मधुकरियों को।" यदि कहीं-कहीं इस प्रकार के प्रयोग दिखाई पड़ते हैं तो वे प्रभाव-रहित और व्यर्थ ज्ञात होते हैं। परंतु हाँ! जहाँ एक ही लगाव में कई वाक्यों में इस प्रकार का वाक्य-व्यतिक्रम रहता है वहाँ कुछ स्वाभाविकता और प्रभाव रहता है। पर ऐसे स्थल न्यूनातिन्यून हैं। जैसे—"कैसा होगा वह वीणा पर हाथ रखनेवाला, कैसी होगी उसकी गति-माधुरी, कैसी होगी उसकी सरल-मंद-मुसकान!"

इन्होंने 'आख़िर', 'क़ैद', 'दर्द', 'सफ़', 'ख़ुदी', 'चीज़', 'तरफ़', 'ज़हरीला', 'ख़ैर', 'आवाज़', 'बाज़ी', 'आफ़त', इत्यादि अनेक उर्दू के तत्सम शब्दों का प्रयोग इधर-उधर किया है। यह विशेष बुरा नहीं है। परंतु जहाँ संस्कृत की घोर तत्समता के बीच उर्दू का एक तत्सम शब्द आ पड़ा है वहाँ वह 'हंसमध्ये वको यथा' बड़ा अस्वाभाविक ज्ञात होता है। संभव है, इस प्रकार के प्रयोग में लेखक का सिद्धांत अथवा चाव विशेष हो, परंतु भाषा-सौष्ठव के विचार से न तो इसमें कोई चमत्कार ही प्रकट होता है और न स्वाभाविकता ही दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिये दो-चार अवतरण ही पर्याप्त होंगे। "आज के दिन मेरी विचार-तरंग माला सांसारिक परिस्थिति रूपी तूफ़ान से चंचल होने लगी है, मेरी स्वतंत्रता शनैः शनैः स्वार्थियों की कृतघ्नता-रूपी काल-कोठरी में छिपती जा रही है।" यहाँ क्या अच्छा होता यदि **तूफ़ान धीरे धीरे** आ जाता। उसका **शनैः शनैः** आना कितना अस्वाभाविक और अव्यवहार्य है। "वही हिमशिखर अकस्मात् अनलज्वालाएँ उगल उठा! जेठ मास के रेगिस्तानी तूफ़ान ने हिम-शिलाएँ थरथरा डालीं।" "मेरे उद्यान में पक्षियों का कलरव ख़ूब भर रहा था।"

"उनकी अर्धोन्मीलित आँखें रणांगण में बंद हुई थीं।" "कृत्रिम सभ्यता-रमणी के गुलाम हो रहे हैं।" "तुम्हारे पाद-पद्म-समीपेषु रहते हुए भी इस कुंदज़हन ने सनातन समाज-व्यापी स्वार्थवाद का यथेष्ट अध्ययन नहीं किया।" "उसके आधार में न तो विशुद्ध सत्य ही रहता है और न निष्कपट सौजन्य और सौहार्द ही। ऐसे यांत्रिक फ़ैसले को महत्त्व ही क्या दिया जा सकता है।" इत्यादि।

पर जब इसी उर्दू शब्दावली का व्यवहार कुछ वाक्यों में होता है तो उसमें स्वाभाविक सरलता आ जाती है। इस सरलता के अतिरिक्त उसमें चमत्कार भी प्राप्त होता है। जैसे —'उसका दीदार तेरी तीन कौड़ी दुनिया का काया पलट कर देगा। साथ ही तेरी दुरंगी नज़र भी बदल जायगी। उस नज़ारे के आगे तुझे 'मुक्ति' फीकी और बदरंग जँचेगी।" "यवनिका के चित्र फीके पड़ गए, श्मशान की भीषण ज्वाला जल उठी और कफ़न में लिपटे हुए हजारों मुर्दे नेपथ्य में जमा हो गए।" "दिल की सफ़ाई करके दुनिया का कूड़ा-करकट साफ़ कर। ख़ुदी को खोकर बेख़ुदी में मस्त हो। आँख पर से एकतरफ़ी चश्मा हटाकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर।" इत्यादि। इसके अतिरिक्त जहाँ 'भठियारिन', 'सवार', 'अनाथालय' ऐसे साधारण विषय आये हैं वहाँ इनकी भाषा-शैली भी कुछ सरल तथा चलतापन लिए हुए है। परंतु उसमें शिथिलता आ गई है। इन स्थानों पर इनमें व्यावहारिकता तो अवश्य आई है, परंतु भाषा कुछ उखड़ी हुई है। जैसे—"देख, बाग मोड़ ले, इस मार्ग पर हो आगे न बढ़। इसके दोनों ओर खाई-खंदक हैं। तू तो उस तंग गली से जा। रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा अवश्य है, कंकड़ीला भी है। काँटे भी बिछे मिलेंगे। पर डरना मत; साहस मत छोड़ना, चले ही जाना, बहादुर सवार! जब वह तेरा मस्त सैलानी घोड़ा हाँफने लगे; पसीने से तर हो जाय, अपनी सारी कूद-फाँद भूल जाय, तब उतर पड़ना। बस वहीं सफ़र पूरा समझना। तू अपना लक्ष्य-स्थान पा लेना। उसी स्थान पर तुझे स्थैर्य प्राप्त होगा। सुना है, उस स्थैर्य को स्थित-प्रज्ञों ने 'ब्राह्मी स्थिति' का नाम दिया है।" इस अवतरण के एक-एक वाक्य एक-एक भाव-विशेष अलग लिए बैठे दिखाई पड़ते हैं।

जिन स्थलों पर इन्होंने अपनी अस्वाभाविक संस्कृत-तत्समता की

दीर्घ समासांत पदावली का उपयोग नहीं किया है और न जहाँ वे केवल चलतेपन के विचार से उर्दू की ओर झुके, वहाँ इनकी भाषा विशुद्ध, स्पष्ट, व्यावहारिक एवं श्रुति-मधुर हुई है, और ये सब गुण स्वाभाविक रूप में उपस्थित हुए हैं। इनके लिये कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। वस्तुतः यही भाषा-शैली वियोगी जी की है। इस शैली के अनुसरण में उन्होंने छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग किया है। उसमें भावावेश की परिमार्जित व्यंजना की है। इन स्थलों पर अन्य गुणों के साथ-साथ धारा-प्रवाह का बड़ा ही स्वाभाविक निर्वाह बन पड़ा है। जैसे :—

"उस रमणीय संध्या को चबूतरे पर निरुद्देश सा बैठा हुआ मैं सामने के उच्च शिखरों की ओर टक लगाए देख रहा था। स्वच्छ चाँदनी से निखरे हुए हिमाच्छादित श्वेत शिखर ऐरावत के दातों से होड़ लगा रहे थे। बैठा बैठा मैं, न जाने किस उधेड़-बुन में लग गया। मेरी विचारशक्ति प्रतिक्षण क्षीण होती जाती थी। ऐसा प्रतीत होता था, मानों मैं किसी गहरे अंधकूप में डूबता जा रहा हूँ।

एकाएक किसी स्वर्गीय स्वर ने मेरी ध्यान-मुद्रा भंग कर दी। स्वर बाँसुरी का सा था। पीछे निश्चय भी हो गया कि कहीं से बाँसुरी की ध्वनि आ रही है। वह उल्लसित स्वर-लहरी उस प्रशांत नभोमंडल में विद्युत् की भाँति दौड़ने लगी। हृदय लहरा उठा। शिखर मुसकराने लगे। चंद्रमा पुलकित हो गया। परिमल-वाही पवन प्रणय-संकेत करने लगा। दिग्वधुएँ घूँघुट हटा झाँकने लगीं। नाला भी निःस्तब्ध हो गया। पत्तियाँ थिरकने लगीं। मुग्धा प्रकृति के सलज मुख पर एक अनुपम माधुरी-कलिका मुकुलित हो उठी। यह सब उसी मोहनी ध्वनि का प्रभाव था। तो फिर मैं नवसृष्टि-विधायिनी क्यों न कहूँ।"

राय कृष्णदास और श्री वियोगी हरि में हमने भावावेश का भिन्न-भिन्न रूप देखा है। दोनों लेखकों की विषय-प्रतिपादन-प्रणाली में भी अंतर है। श्री चतुरसेन शास्त्री की रचनाओं में दोनों लेखकों की अपेक्षा भाषा का अधिक व्यावहारिक रूप दिखाई पड़ता है। अँगरेजी भाषा के सुंदर लेखक चार्ल्स लैंब में इस बात की विशेषता थी कि वह लिखते समय अपने पाठकों को अपना समझने लगता था। उसकी रचनाएँ आत्मीयता

५६. चतुरसेन शास्त्री

के भाव से इतनी परिपुष्ट एवं ओत-प्रोत रहती हैं कि उसकी शैली में चमत्कार-विशेष के साथ व्यावहारिकता तथा सरलता का आकर्षक रूप मिलता है। वही बात हमें शास्त्री जी की उन रचनाओं में प्राप्त होती है जिनमें उन्होंने अपनी हृदयस्थ भावनाओं के उथल-पुथल का मनोरम चित्र खींचा है। उनके पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक अपनी व्यथाओं की रामकहानी इस प्रकार कह रहा है कि पाठक सुनकर तड़पें, रोएँ, गाएँ और हँसें। पाठकों को विश्वास हो जाता है कि उनका कोई अभिन्नहृदय मित्र अपना हृदय निकाल-कर उनके संमुख रख रहा है—और इस विचार से रख रहा है कि-विचार करें, देखें, सुनें और उसकी सांत्वना के लिये अपना हृदय आगे बढ़ाएँ। उनकी इस शैली में वैयक्तिकता की गहरी छाप लगी रहती है। जैसे:—

"मैं बड़ा प्यासा था। हारकर आ रहा था। शरीर और मन दोनों चुटीले हो रहे थे, कलेजा उबल रहा था और हृदय झुलस रहा था। मैं अपनी राह जा रहा था। मुझे आशा न थी कि बीच में कुछ मिलेगा। पर मिल गया। संयोग की बात देखो कैसी अद्भुत हुई। और समय होता तो मैं उधर नहीं देखता। मैं क्या भिखारी हूँ या नदीदा हूँ जो राह चलते रस्ते पड़ी वस्तु पर मन चलाऊँ। पर वह अवसर ऐसा ही था। प्यास तड़पा रही थी—गर्मी मार रही थी और अतृप्ति जला रही थी। मैंने कहा—ज़रा सा इनमें से मुझे मिलेगा। भूल गया कहा कहाँ? कहने की नौबत ही न आई—कहने की इच्छा मात्र की थी। पर उसी से काम सिद्ध हो गया। उसने आँचल में छान प्याले में उड़ेला—एक डली मुसकान की मिश्री मिलाई और कहा—लो, फिर भूला, कहा-सुना कुछ नहीं। आँचल में छानकर प्याले में डालकर, मिश्री मिलाकर सामने धर दिया। चंपे की कलियाँ उसी में पड़ी थीं—महक फूट रही थी। मैं ऐसी उदासीनता से किसी की वस्तु नहीं लेता हूँ—पर महक ने मार डाला। आत्म-संमान, सभ्यता, पद-मर्यादा सब भूल गया। कलेजा जल रहा था—जीभ ऐंठ रही थी। कौन विचार करता? मैंने दो क़दम बढ़कर उसे उठाया और खड़े ही खड़े उसे पी गया—हाँ खड़े ही खड़े।

"वह फिर एक बार मिला। संध्या काल था और गंगा चुपचाप बह रही थी। वह चाँद सी रेती में फूल जमा-जमाकर कुछ सजा रहा था। मैं कुछ दूर था। मैंने कहा आ मेरे पास आ। मैं गया। वहाँ की हवा सुगंधों से भर

रही थी। मैं कुछ ठंडा सा होने लगा। उसके चेहरे पर कुछ किरणें चमक रही थीं। मैंने कहा—"बिट्टुआ! धूप में ज्यादा मत खेलो।" उसने हँस दिया। सुंदरता लहरा उठी। उसने एक फूल दिखाकर कहा—"अच्छा इस फूल का क्या रंग है?" मेरा रक्त नाच उठा। अरे, बेटा बोलना सीख गया। मैंने लपककर फूल उसके हाथ से लेना चाहा—वह दूर दौड़ गया। उसने कहा—"ना इसे छूना नहीं। इस फूल को दुनिया की हवा नहीं लगी है और न इसकी गंध इसमें से बाहर को उड़ी है। ये देव-पूजा के फूल हैं—ये विलास की सजाई में काम न आवेंगे।" इतना कहकर बिट्टुआ गंगा की ओर दौड़कर उसी में खो गया। मैं कुछ दौड़ा तो—पर पानी से डर गया। इतने में आँखें खुल गईं।"

उपर्युक्त उद्धरण में भाषा-माधुर्य के साथ धारा-प्रवाह का बड़ा सुंदर संमेलन हुआ है। मधुरता के लिये लेखक शब्द तक बिगाड़ने को तैयार है। उसने शब्दों को तत्सम रूप में रखने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं समझा है। चलतेपन के लिये वह सब कुछ करने को उद्यत है। हिंदी-उर्दू का मिला-जुला जो रूप हम श्री प्रेमचंद्र की रचनाओं में पाते हैं उसी का आनंद यहाँ भी मिलता है। लेखक इस प्रकार लिखने में सिद्धहस्तता प्राप्त कर चुका है। वहाँ उसका साम्राज्य है। चलती, सरल तथा बोधगम्य भाषा में भावों की लड़ी किस प्रकार पिरोनी चाहिए इस बात को शास्त्री जी भली भाँति जानते हैं। जिस प्रकार भावावेश हृदय में उत्पन्न होता है उसी प्रकार, उसी स्वाभाविक रूप रंग में उसे शब्दांतर्गत उपस्थित करने में, वाक्यों को इधर-उधर तोड़-ताड़कर तथा अनेक चिह्नों का सहारा लेकर वाक्य-विन्यास करना पड़ता है। यही कारण है कि इनकी रचना में विरामादि चिह्नों की अधिकता रहती है।

शास्त्री जी ने स्थान-स्थान पर विभक्तियों को छोड़ भी दिया है। यह उनका या तो सिद्धांत हो या प्रांतिकता का प्रभाव। जैसे—"मैं क्या भिखारी हूँ जो राह चलते रस्ते पड़ी वस्तु पर मन चलाऊँ।" "पराए सामने सदा संकोच से रहता था" इत्यादि। या तो 'रस्ते पड़ी वस्तु' के बीच में संमेलन-चिह्न रखा जाय अथवा 'रस्ते पर पड़ी हुई वस्तु' लिखा जाय और 'पराए' तथा 'सामने' के बीच में 'के' हो। ऐसा करने से भाषा का सौष्ठव नष्ट होता हो सो बात नहीं है। कहीं-कहीं वाक्य-पूर्णता की आकांक्षा भी अप्रयोजनीय है। जैसे—"किसी

को मुँह नहीं दिखाता हूँ, पर लज्जा फिर भी पीछा नहीं छोड़ती है। छिपकर रहता हूँ, पर मन में शांति नहीं है। दिनरात भूलने की चेष्टा करता हूँ पर फिर भी स्मृति की गंभीर रेखा मिटती नहीं है।" इन वाक्यों में अंत का "है" व्यर्थ है। इससे भाषा में लचरपन आ जाता है। उसका धारा-प्रवाह नष्ट हो जाता है। इन बातों के अतिरिक्त वाक्य-विन्यास में कहीं-कहीं अँगरेजी-पन भी पाया जाता है। "राई की प्राप्ति को पहाड़ परिश्रम करते हो" ( To gain a little you work a mountain); इत्यादि। ऐसे स्थल प्रमाद-स्वरूप ही हों, ऐसी बात नहीं। परंतु इसके लिये लेखक को विशेष सतर्क रहने की आवश्यकता नहीं। ऐसी बातें स्वाभाविक होती हैं। इसके लिये विशेष नियंत्रण रखने से भाषा-शैली में कृत्रिमता उत्पन्न होने की आशंका रहती है।

इनकी प्रायः सभी रचनाओं में शब्दों के कुछ प्रांतीय रूप मिलते हैं। लेखक जिस स्थान विशेष का है उसी के आस-पास में शब्दों का जिस रूप में व्यवहार होता है, उसी को वह साहित्य में भी रखना चाहता है। वस्तुतः यह उचित नहीं, क्योंकि शब्दों का वही रूप साधारण भाषा में ग्राह्य होना समीचीन है जो अधिकांश भाग में प्रयुक्त हो। उन्होंने 'तिस पीछे' और 'सो' इत्यादि पंडिताऊपन के शब्दों और रूपों के सिवा कितने ऐसे शब्दों का भी व्यवहार किया है जो संभवतः उनके आस-पास के प्रदेशों में प्रचलित हैं। 'खुल्ला', 'भोंरे', 'टूटना', 'बुरक', 'भींचे', 'धकेलना', 'जाये' (जाकर), 'भिड़-तितैया', "बेटा! कला को देखना तो आज वह कैसा कुछ करती है।" इत्यादि अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका व्यवहार प्रदेश विशेष तक ही परिमित है। इसके अतिरिक्त शब्दों के प्रयोग में अस्थिरता नहीं होनी चाहिए, जैसा कि उन्होंने किया है। यदि 'पर्वा' लिखा जाय तो 'परवा' न लिखा जाय अथवा 'लच्छन' लिखा जाय तो 'लक्खन' न प्रयुक्त हो; क्योंकि इससे शब्दों का निश्चयात्मक रूप व्यवस्थित नहीं रह सकता।

वस्तु-प्रतिपादन की आलंकारिक प्रणाली में उन्होंने भी 'मानो', 'की तरह', 'जैसे', 'वैसे' का अधिक अनुसरण किया है। परंतु इनकी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं में वह लोकातीत वैभव नहीं रहता जो 'प्रसाद' जी अथवा 'राय साहब' में मिल चुका है। इनकी रचना

में जगत् की व्यावहारिक सत्ता का आभास सदैव विद्यमान रहता है। इनकी उत्प्रेक्षाएँ और उपमाएँ इतनी परिचित रहती हैं कि उनका दर्शन हम नित्य की घटनाओं में पाते रहते हैं। वास्तव में रचना-प्रणाली की सरलता एवं व्यावहारिकता के साथ इसी प्रकार की उपमाओं का सामंजस्य अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इससे भाषा की स्वाभाविकता नष्ट नहीं होती। 'प्रसाद' जी अथवा 'राय साहब' में उसके विषय के अनुकूल ही अलंकार-विधान भी रहता है। उनका क्षेत्र कल्पना का है। परंतु शास्त्री जी व्यवहार-जगत् के हैं। अतः समानता का प्रतिरूप उपस्थित करने में उनकी दृष्टि उन्हीं वस्तुओं पर पड़ती है जो वस्तुतः हमारे साधारण जीवन में प्राप्य हैं। जैसे—"मानो तंग कोठरी की क़ैद से निकलकर स्वच्छ हरे-भरे मैदान में आ गया हूँ।" "जैसे लहर लीन हो जाती है, जैसे स्वर लीन हो जाता है।" "जैसे सूर्य पृथ्वी के रस को आकर्षण करके संसार पर वर्षा करता है, वैसे ही धन, धर्म, धान्य, जन सबको आकर्षण करूँगा और पुनः विसर्जन करूँगा।" "इस तरह मरे बैल की तरह क्यों आँख निकालता है?" "तबला दुख से मानो हाय! हाय! कर उठा।" "प्रवीण को ऐसा मालूम हुआ कि जैसे वह सब आँखें फाड़-फाड़कर उसी को तरफ़ झाँक रहे हैं।" "वह मशीन की तरह माता का सिर गोद में रखकर बैठे रहे।" "देखते ही देखते वह मुर्दे की तरह सफ़ेद हो गया।" "मर्माहत सर्पिणी की तरह", "युद्ध में हारे राजा की तरह", "पनाले की तरह वह निकला", 'जिस तरह' और 'उसी प्रकार' का प्रयोग उन स्थानों पर अस्वाभाविक दिखाई पड़ता है जहाँ पर अत्यधिक विस्तारगामी उपमाएँ आई हों। वाक्य के अंत तक पहुँचते-पहुँचते प्रस्तुत विचार-शृंखला टूट जाती है। जैसे—'जिस तरह इंद्रियों के पास जिह्वालोलुप जन नानाप्रकार के मिर्च-मसाले आदि अप्राकृत पदार्थ खाकर और तरह तरह के मिथ्या आहार-विहार करके अनेक जाति के रोगोन्मूलक परमाणुओं को शरीर में बसाकर रोगी हो जाते हैं और जुलाब देकर जिस प्रकार उनके शरीर से समस्त दूषित पदार्थ निकाले जाकर शरीर शुद्ध और निर्मल किया जाता है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य-समाज ईर्ष्या, द्वेष, अज्ञान और स्वार्थवश जब अनेक बुराइयों से परिपूर्ण हो जाता है, तब क्रांति का जुलाब देकर उसे विशुद्ध और सरल बनाकर फिर नए

सिर से व्यवहार जारी किया जाता है।" इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर नाटकोय कथोपकथन की स्वाभाविकता उपस्थित करने के विचार से इन्होंने वाक्य-विन्यास में भी उलट-फेर किया है। इससे कथानक का विवरण देने में स्वाभाविकता पाई जाती है। कथोपकथन की स्वाभाविकता के अतिरिक्त उसमें बल-विशेष लाने का विचार भी रखा गया है। जैसे—"आने दो भविष्य के धवल महल को", "यह दस्तावेज है हमारो गदा", "तुम क्या जाग्रत रहते हो इस वसंत में", "गया कहाँ है वह बदमाश, लंपट?" "वह मैंने तुम्हे सँभाल दी थी—जैसे चिड़िया अपने बच्चे को वृत्त के खोंखले में रखती है।", "किस लोक की तरफ तुम्हारा लक्ष्य है?" इत्यादि। इस प्रकार का वाक्य-विन्यास का परिवर्तन कथोपकथन में बड़ा ही उपयुक्त एवं रुचिकर जँचता है।

शास्त्री जी की प्रायः सभी रचनाओं में धारावाहिकता का अच्छा प्रसार मिलता है। उनका प्रत्येक वाक्य एक दूसरे से इस प्रकार सबंद्ध रहता है कि किसी को पृथक् करने से भाव-शृंखला छिन्न-भिन्न हो जाती है। कहीं-कहीं एक ही बात भिन्न-भिन्न कई वाक्यों में इस प्रकार लिखी जाती है कि एक विशेष प्रकार का ओज उत्पन्न हो जाता है। उसके पढ़ने-सुनने में बड़ा बल ज्ञात होता है। जैसे—"पर मान, संमान और गौरव देकर क्या पाया।" "वे अमर हैं, प्रबल हैं और अमोघ हैं।" "जो तेजस्वी हैं, जो मानधनी हैं, वे अपने झोपड़े में अपनी ही चटाई पर सुख से सो सकते हैं।" "राजा को देखकर हजारों सेनाएँ अपनी बंदूकें नीची कर लेती हैं, हजारों सशस्त्र सिपाही सिर झुकाकर भेड़े की तरह अपने सेना-नायक की आज्ञा पालते हैं। असंख्य प्रजा राजा को देखकर सिर झुका लेती है।" "कैसी घृणा, कैसी लज्जा, कैसी ग्लानि और कितनी कमीनी बात है।" इत्यादि। इसके अतिरिक्त एक प्रधान विशेषता यह है कि इनकी रचनाओं में वक्तृत्व अधिक पाया जाता है। इससे विषय-प्रतिपादन में अपूर्व चमत्कार आ जाता है और बल बढ़ता है, कांति और सुष्ठुता दिखाई पड़ती है। बलवती भाषा में और छोटे-छोटे वाक्यों में किस प्रकार विषय का प्रभावात्मक निदर्शन एवं विधान होता है यह निम्नांकित अवतरणों से स्पष्ट हो जायगा :—

"बड़ा सुख है, अब रात-दिन चाहे जब रो लेता हूँ। कोई सुननेवाला

नहीं, देखनेवाला भी नहीं। सन्नाटे की रात में नितांत दूर टिमटिमाते तारों के नीचे, स्तब्ध खड़े काले काले वृक्षों के नीचे घूम घूमकर मैं रात भर रोता हूँ। यह मेरा अत्यंत सुखकर कार्य है। इसमें मेरा बड़ा मन लगता है। और इस पवित्र रुदन के लिये स्थान उपयुक्त भी है। निकट ही गीदड़ रो रहे हैं। कुत्ते भी कभी कभी रो पड़ते हैं। घुग्घू बीच बीच में रोने का प्रयत्न करता है। परंतु मेरे रोने का स्वर तो कुछ और ही है, वह अंतस्तल की प्राचीन भित्ति को विदीर्ण करके एक नीरव लहर उत्पन्न करता हुआ नीरव लय में लीन हो जाता है। उसे देखने की सामर्थ्य किसमें है। नींद अब नहीं आती। दो महीने रात-दिन रोता रहा हूँ। अब नींद से हिसाब साफ़ है। हाँ, चटाई पर औंधा पड़ जाता हूँ और आँख बंद कर चुपचाप सुनने की चेष्टा करता हूँ। तब रात्रि के गंभीर अंधकार को विदीर्ण कर एक अस्फुट ध्वनि सुनाई पड़ती है। और मैं विवश होकर उसमें स्वर मिलाकर विहाग या मालकोश की रागिनी में रुदन गान करने लगता हूँ। आँसुओं के प्रवाह में रात्रि भी गलने लगती है। तब हठात् वह उसी विमल परिधान में आती है और पहले जैसे वह बलपूर्वक मेरे काग़ज़-पत्र उठाकर मुझे सोने पर विवश करती थी, उसी तरह मेरे उस संगीत को उठाकर रख देती है। पर हाय! अब मैं सो नहीं सकता। आँख फाड़कर देखता हूँ तो अकेला रह जाता हूँ। मैं शेष रात्रि इस वृक्ष से उस वृक्ष के नीचे घूम घूमकर काट देता हूँ।"

"साहित्य की मूल भित्ति है हृदय और उसके निकाल के प्रपात का स्थल है मस्तिष्क। हृदय में आंदोलन उत्पन्न करके मस्तिष्क की सूक्ष्म विचार-धाराओं का संचालन करना साहित्य का कार्य है। यही तो मानव जीवन का उत्कर्ष है—पशु और मनुष्य में यही तो अंतर है। पशु साधारण शरीर की आवश्यकताओं का अनुभव करके जीवन की सभी चेष्टा करता है। परंतु मनुष्य मस्तिष्क की विचार-धाराओं से आंदोलित होकर जीवन की उन प्रक्रियाओं को भी करता है, जिनसे वास्तव में उनकी शरीर-संपत्ति का कोई वास्ता ही नहीं है। इसलिये किसी भी जाति या समाज का साहित्य देखकर हम स्थूलता से इस बात का अनुमान लगा सकते हैं कि वास्तव में वह जाति मनुष्यत्व की कसौटी है। और केवल कसौटी ही नहीं, वह जाति के उत्थान और पतन का एक प्रबल कारण भी है। साहित्य जातियों को वीर बनाता है, साहित्य ही जातियों को क्रूर, नीच, कमीना, पापी, पतित बनाता है। इसलिये प्रत्येक जाति के विद्वानों के ऊपर इस

बात का नैतिक भार है कि अपने साहित्य पर कठोर नियंत्रण कायम रक्खें उसे जीवन से भी उच्च, पवित्र एवं आदर्श बनाए रक्खें।"

भाषा एवं भावों की अभिव्यंजना-शैली पर देशव्यापी आंदोलन का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है। राजनीतिक उथल-पुथल में अनेक प्रकार के आचार-विचार का समावेश रहता है। किसी भी आंदोलन में भावनाओं की उधेड़-बुन, निदर्शन और नवीन विचारों की आलोचना एवं प्रतिपादन होता है। इन आंदोलनों की जैसी प्रगति होती है, उसमें अंतर्निहित जैसी विचार-धारा रहती है, उसी के अनुरूप 'प्रचार' की भाषा भी आवश्यक होती है। हम इसके पूर्व ही देख चुके हैं कि आर्य-समाज के प्रचार का प्रभाव हमारी हिंदी भाषा पर कितना पड़ा है। वह प्रभाव अच्छा था या बुरा इसका विवेचन इस स्थल पर प्रयोजनीय नहीं। उस समय वाद-विवाद, तथ्यातथ्य-निरूपण, तथा वितंडावाद ही प्रधान था। यही कारण था कि उस समय की प्रचलित शैली में इसका प्रभाव स्पष्ट पाया जाता है। इसके अतिरिक्त कथन की युक्तिपूर्ण प्रणाली—जिसमें तर्क की विशेष मात्रा मिश्रित रहती थी—साधारणतः उस समय के सभी लेखकों में प्राप्त होती है।

शिवपूजन सहाय

आर्य-समाज के आंदोलन से भी कहीं अधिक प्रसारगामी एवं देशव्यापी आंदोलन उपस्थित हुआ असहयोग का। उसमें दोनों का आर्तनाद मिश्रित था; पीड़ितों की हाय, अन्न-वस्त्र से दुखी देश-वासियों की तड़प, दासत की बेड़ियों से मुक्ति चाहनेवालों का गगनभेदी चीत्कार दूर-दूर तक प्रतिध्वनित हुआ। आंदोलन को व्यापक बनाने के विचार से सभाएँ और वक्तृताएँ होने लगीं। समाज में आवेश उत्पन्न हुआ। बहुत सी रूढ़िगत भावनाओं का निराकरण प्रारंभ हुआ; और समाज में नवीन ज्योति, उत्साह और बल उपस्थित हुआ। अपने कथन को प्रभावशाली बनाने के विचार से कठोर से कठोर तथा उग्र से उग्र शब्दों का प्रयोग भाषा में बढ़ने लगा। वस्तु-प्रतिपादन की शैली में, कथोपकथन में, वाद-विवाद में तथा विवरण उपस्थित करने में उद्वेग, उग्रता, दृढ़ता और निर्भीकता का स्वरूप दिखाई पड़ने लगा। साधारण से साधारण विषय भी बड़े जोर-शोर के साथ लिखे जाने लगे। भाषा-शैली साधारणतः वक्तृत्व

से ओत-प्रोत हो गई। इस वक्तृत्व का शीघ्र ही इतना प्रसार हुआ कि साधारण लेखों में, कथा-कहानियों में, नाटक और आलोचना में— —सभी स्थानों में—इसकी छाप बैठ गई। इस शैली-विशेष के प्रतिनिधि बाबू शिवपूजन सहाय और पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' माने जा सकते हैं।

इनमें से बाबू शिवपूजन सहाय की भाषा में विशुद्धता का विचार अधिक पाया जाता है। स्थान-स्थान पर उर्दू शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। इस प्रकार की शब्दावली अधिकतर मुहावरों की लपेट में आ गई है। अथवा उन स्थनों पर भी इनका प्रयोग पाया जाता है जहाँ लेखक का विचार चलतापन लाने का रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थानों पर अधिकांश रूप में विशुद्धता का ही निर्वहन पाया जाता है। इन स्थलों पर विशुद्धता के अतिरिक्त भाषा-सौष्ठव बड़ा सुंदर बन पड़ा है। उसमें माधुर्य एवं ओज का अपूर्व संमेलन स्थापित दिखाई पड़ता है। प्रांतीयता का प्रभाव इनकी भाषा-शैली में तनिक भी न मिलेगा। इनकी सामान्य शैली परिष्कृत, सतर्क तथा परिमार्जित हैं। उनमें विषयानुकूल भाषा के उपयोग करने की अच्छी कुशलता है। यही कारण है कि इनकी रचनाओं में चमत्कार, आकर्षण और प्रभाव रहता है।

भाषा की उत्कृष्टता के साथ-साथ आलंकारिकता का अच्छा संमिश्रण मिलता है। 'ऐसे', 'जैसे' और 'सी', 'मानो' का मनोरम उपयोग दिखाई पड़ता है। इनका प्रयोग कहीं-कहीं तो इतने सुंदर ढंग पर हुआ है कि रचना से काव्यात्मक ध्वनि निकलती जान पड़ती है। सादृश्य-विधान भी अधिकांश इस उद्देश्य से किए गए नहीं जान पड़ते कि उनके द्वारा काल्पनिक वैभव व्यक्त हो वरन् इसलिये कि साधारण नित्य के अनुभव से संबंध रखनेवाली बातों के मेल से अनुभूति तीव्र और स्पष्ट हो। यही कारण है कि 'सी' और 'मानो' के उपरांत इतनी सरल उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ इनकी रचनाओं में प्राप्त होती हैं कि उनके हृदयंगम करने में पांडित्य तथा विशिष्टता की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसी अलंकार-प्रवृत्ति ने इनकी रचना-शैली में अनुप्रासों की प्रचुरता उपस्थित की है। परंतु अनुप्रास के प्रयोग में बनावटीपन नहीं झलकता वरन् प्रवाहगत स्वाभाविकता पाई जाती है। इससे भाषा में सौंदर्य एवं माधुर्य

आ गया है। यह अनुप्रासयुक्त भाषा किसी समय या स्थल-विशेष पर मिलती हो ऐसी बात नहीं है। यह व्यापक रूप में एक सी प्राप्त होती हैं। जैसे—'खिड़की से छन-छनकर आनेवाली चाँद की चटकीली चाँदनी ने चूड़ावत-चकोर को आपे से बाहर कर दिया। ......नए प्रेम-पाश का प्रबल बंधन प्रतिज्ञा-पालन का पुराना बंधन ढीला कर रहा है। चूड़ावत जी का चित्त चंचल हो उठा। वे चटपट चंद्रभवन की ओर चल पड़े। वे यद्यपि चिंता में चूर हैं, पर चंद्रदर्शन की चोखी चाट लग रही है। वे संगमर्मरी सीढ़ियों के सहारे चंद्रभवन पर चढ़ चुके, पर जीभ का जकड़ जाना जी को जला रहा है।" "लड़ाई की ललकार सुनकर लँगड़े-लूलों को भी लड़ने-भिड़ने की लालसा लग जाती है", "उज्ज्वल धारा से धोए हुए आकाश में चुभनेवाले कलश, महलों के मुँडेरों पर मुसकरा रहे हैं।" "वंदीवृंद विशद विरुदावली बखानने में व्यस्त हैं।" "शूर सामंतों की सैकड़ों सजीली सेनाएँ साथ में हैं सही।" "नव-पल्लव-पुष्प-गुच्छों से हरे-भरे कुंज-पुंजों में वसंत-वसीठी मीठी मीठी बोलती और विरह में विष घोलती थी। मधुर-मधुमयी माधवी लता पर मँडराते हुए मकरंद-मत्त-मधुकर, उस चराचर मात्र में नूतन शक्ति संचालन करनेवाले—जगदाधार का गुन-गुनकर गुण गाते थे। लोनी लतिकाएँ सूखे सूखे वृक्षों से भी लिपट रही थीं। वसंत-वैभव ने उस वन को विभूतिशाली बना दिया था।" इत्यादि। इस प्रकार के अवतरण उद्योग के साथ उपस्थित किए जा सकें यह नहीं है। सर्वत्र ही इस प्रकार की अनुप्रास-पूर्ण भाषा मिलेगी।

इस सानुप्रासिकता तथा विशुद्धता के व्यवहार का जो परिणाम होता है वह भी इनमें विशेष मिलता है। दीर्घ समासांत पदावली व्यापक रूप में दिखाई पड़ती है। अपने स्थान पर यह अनुचित नहीं प्रतीत होती क्योंकि रचना-प्रणाली के साथ इनका अच्छा साम्य ठहरता है। 'सौंदर्य-गरिमामय-मुखारविंद', 'मल्लिका-वल्लरी-वितानों', 'अलि-अवलि-केलि-लीला', "मंजुल-मंजरी कलित तरुवर की शाखाओं पर शान से तान का तीर मारनेवाली काली-कलूटी कोयल, पल्लवावगुंठन में मुँह छिपाए बैठी हुई, इस अनुरूपा सुंदरी को देख रही थी। शीतल सुरभित-समीर विलुलित अलकावली तीर डोल-डोलकर रस घोल जाता था। चंचल पवन

अंचल पर लोट-लोटकर अपनी विकलता बताता था। धीरे धीरे कुंचित कुंतलराशि, नितंबावरोहण करती हुई, आपाद लटक रही थी। यद्यपि निराभरण शरीर पर केवल एक वस्त्र ही शेष था, तथापि वह शैवाल-जाल-जटित सुंदर सरोजिनी सी सोहती और मन मोहती थी।"

इसी उत्कृष्ट विशुद्ध एवं समासांत पदावली में जब काल्पनिक वैभव का संमिश्रण हो जाता है तब शैली में एक अटूट धारा बह चलती है। कहीं-कहीं इस प्रकार के आलंकारिक उल्लास से मन ऊब जाता है और वाक्य के अंत तक पहुँचते-पहुँचते भाव शृंखला छिन्न-भिन्न हो जाती है। वस्तुतः इस प्रकार की रचनाएँ पढ़ते समय अधिक निग्रह और चिंतन के कारण कष्ट का अनुभव होने लगता है। जैसे :—

"वह अप्रतिमा प्रतिमा, वसंत काल की नव किसलय कलित रसाल द्रुमावली सी वह प्रतिमा, प्रभातकालीन मलय-मारुत से ईषत् दोलायमाना मंद स्मित नवनलिनी की सी वह प्रतिमा, वासंती संध्या-समीरण-जनित गंगा की कृश कल्लोल-मालिका सी वह प्रतिमा, जयदेव की कोमल कांत पदावली सी वह प्रतिमा, शोण-सैकत-शय्या पर लेटी हुई सद्यःउदित सूर्य की किरणों की सी वह प्रतिमा, श्रावण की जल-प्लावित शस्य-श्यामला वसुंधरा की सी वह प्रतिमा, नवोढ़ा कृषक-ललना के करतल-विराजित नव-शालि-वालि-पुंज की सी वह प्रतिमा, अर्जुन के प्रति स्वर्गीय वारांगना उर्वशी की सी मधुर-कटाक्ष-पात-पूर्वक विनीताभ्यर्थना की सी वह प्रतिमा, मरुस्थल के श्रांत एवं तृषित पथिक के लिये सजला-सरसी-दर्शन की सी प्रतिमा, दुष्यंत के प्रति शकुंतला की निरंतर चारुचिंता सी वह प्रतिमा, कार्तिक मास की दीपावली से नख-शिख-मंडिता काशी की गंगा-तटस्थ आकाश-चुंबिनी प्रासाद-प्रणाली सी वह प्रतिमा, भाद्रपद के नीरव निशीथ-काल में वर्षा-वारि-विलोड़िता खर-स्रोत-सरिता की दूरागत कल-कल ध्वनि की सी वह प्रतिमा, कुसुमित दांपत्य-प्रेम-पादप के प्रथम फल की आशा की सी वह प्रतिमा, पुष्पोद्यान में प्रथम बार रामचंद्र-दर्शन से मैथिली के मानस-मंदिर में प्रकट हुई अलौकिक प्रीति-ज्योति की सी वह प्रतिमा, लावण्य-लीला-विस्तारिणी नववधू के मित मिष्ट-भाषण की सी वह प्रतिमा।"

इस प्रकार आलंकारिक विशदता की इतनी लंबी लड़ी नहीं तो छोटी-छोटी लड़ियाँ प्रायः मिलेंगी।

इनकी रचनाओं में कहीं-कहीं पर पद्यात्मक तुकांत भी उपलब्ध होता है। यह तुकांत वस्तुतः उस प्रकार का नहीं होता जो हमें श्री लल्लूजीलाल और सैयद इंशा में प्राप्त हुआ था। उसमें प्राचीनता की छाप थी, परंतु इसमें भाषा की प्रगल्भता पाई जाती है। इसमें मनोरंजक चमत्कार दिखाया गया है। इस तुकांत का जहाँ परिमित रूप में व्यवहार हुआ है वहाँ पर स्वाभाविक और सुंदर लगता है। जैसे—'सतीत्व-रक्षा के लिये जरा-जर्जर जटायु ने अपनी जान तक गँवाई जरूर, लेकिन उसने जो कीर्ति कमाई और बधाई पाई, सो आज तक किसी कवि की कल्पना में नहीं समाई।' परंतु वही तुकांत जब विस्तृत रूप में रखा जाता है तब अस्वाभाविक और भद्दा लगने लगता है। जैसे—"यह संसार असार है, ऐसा वेदांतियों का विचार है। उनके लिये ईश्वर भी निराकार है; किंतु हमारे साहित्य-संसार का ईश्वर साकार है। ज्ञानियों का संसार भाषा का बाज़ार है, हम साहित्यिकों का संसार अमृत का भांडार है। उनके लिये संसार कारागार है, हम लोगों के लिये करुणावतार का लीलागार है। उनके लिये शृंगार दुराचार है, हम लोगों के लिये वह गले का हार है—अलंकार है। उधर ओंकार का आधार है, इधर नंदकुमार का आधार है। बड़ा ही विचित्र व्यापार है।"

इधर भाषा-शैली के उत्कर्ष के साथ विरामादिक चिह्नों का प्रयोग अधिक होने लगा है। इनका आधार लेकर भाँति-भाँति की भावनाओं का, कई रूप से, निदर्शन होने लगा। अँगरेजी में The book, however, came to the press लिखा जाता है। "हाँ, अब, जब कि यह पुस्तक, किसी न किसी रूप में—प्रकाशित हो गई, तब संभव है, कभी सौभाग्यवश विद्वानों की दृष्टि इसपर पड़ जाय।" इस वाक्य में भी "किसी न किसी रूप में" दो संबंधात्मक चिह्नों के बीच में उसी प्रकार रखा गया है, जिस प्रकार अँगरेजी का 'However' दो अर्ध-विरामों के बीच में रखा गया है। अब चिह्नों का सहारा लेकर भाव-व्यंजना बड़ी विशदता से होने लगी है। श्री शिवपूजन सहाय और श्री पांडेय बेचन शर्मा में इस प्रकार का व्यंजनात्मक विस्तार अधिक पाया जाता है। भावावेश की स्वाभाविक प्रगति के प्रदर्शन में इन चिह्नों ने बड़ा योग दिया है। इन्हीं चिह्नों के सहारे एक शब्द का प्रयोग कर

ठीक उसके उपरांत उसी भाव का दूसरा शब्द, दो संबंध-चिह्नों के बीच में रखकर, पहला शब्द और भी अधिक प्रभावात्मक बनाया जाता है। वस्तुतः यह चिह्न 'और' का काम कर देता है। जैसे—"साहित्य-रसिकों के रसास्वादन—मनोरंजन—के लिये।" इसी भाँति कहीं-कहीं गुणवाचक पदावली भी रखी जाती है। जैसे—"प्रार्थना-पत्र ब्राह्मण-देवता ने, राणाजी की—भक्तिभाव-पूर्वक प्रणाम के हेतु जोड़ी गई—अंजली में, उनका कल्याण मनाते हुए छोड़ दिया।"

इन चिह्नों के सहारे एक ही प्रकार के कई भाव व्यक्त करने के लिए कई शब्दों अथवा पदों को यथाक्रम रखने का बड़ा रोचक एवं प्रभावात्मक ढंग प्रचलित हुआ है। इसमें भाषा को बड़ी विशदता और शक्ति प्राप्त होती है। पूर्व-प्रचलित तार्किक शैली में इतनी उत्कृष्टता नहीं पाई जाती थी। इस शैली के द्वारा बड़े ही प्रबल रूप में उत्साह, बल, पौरुष आदि का दीर्घ प्रवाह व्यक्त हो सकता है। जैसे—"जिस मेवाड़ की मान-मर्यादा बनाने के लिये, हमारी माताओं ने, अपनी गोद के लाखों लाल लुटा दिए हैं, उसी मेवाड़ की गौरवान्वित गद्दी को सनाथ करनेवाला, राणा हमीर और राणा साँगा तथा हिंदू-कुल-सूर्य प्रताप का वंशधर, क्या राज्यनाश के भय से, जंगलों में भटकते फिरने की शंका से, शरण में आई हुई एक अबला को आत्मघात करने का अवसर देगा? यदि ऐसा होगा तो उसी दिन वीररक्ताभिषिक्त मेवाड़-भूमि रसातल में पैठ जायगी, सूर्य्य चक्कर खाकर डूब जायगा, भूमंडल भी—तूफ़ान से घिरे हुए जहाज़ की तरह—डगमगा उठेगा, तारे एक से एक टकराकर चूर्ण हो जायँगे, समुद्र अपनी मर्यादा छोड़कर भूलोक को डुबो देगा, चाँद से चिनगारियाँ बरसने लगेंगी, और अरवली का हृदय, भीषण ज्वालामुखी के प्रस्फोट से, एकाएक फट पड़ेगा।" अथवा "यदि कृष्ण-कुमारी सी अविरल सुंदरी के लिये आठ आठ आँसू रोने की इच्छा हो, उसकी स्नेह-शीला माता के दारुण-करुण-विलाप-कलाप से कलेजा कँपाना हो, यदि कल्पद्रुम-कुसुम माला-मंडिता स्वर्ग-प्रतिमा का अकाल विसर्जन होकर दिल दहलाना हो, तो आइए, किंतु उदयपुर के रनिवास में चलकर, एक हृदय-द्रावक दृश्य देखने के लिये पहले हृदय को वज्र से मढ़ लीजिए।" अथवा "उसका हृदय, तुम्हारे कुसुम-सुकुमार अंग से भी कोमल, तुम्हारी विलास-

लीला से भी मधुर, तुम्हारी श्वास-वायु से भी सुगंधित और तुम्हारी दाड़िम-दंतावलि से भी उज्ज्वल था।"

यों तो इन्होंने स्थान स्थान पर इतिवृत्तात्मक विवरण देने में भी भाषा की विशुद्धता एवं समासांत पदावली का ही व्यवहार किया है, परंतु वहाँ वह स्वाभाविकता नहीं मिलती जो उनके उस विवरण में प्राप्त होती है। इसमें वस्तुतः सरल एवं व्यावहारिक प्रणाली का अवलंबन किया गया है। ऐसे स्थलों पर वाक्य भी छोटे-छोटे लिखे गए हैं। सभी स्थानों पर इस सिद्धांत का निर्वाह हुआ हो, यह आवश्यक नहीं। क्योंकि ऐसे स्थान भी अवश्य हैं जहाँ इन्होंने साधारण विवरण देने में भाषा का वही रूप रखा है जो कि प्रायः उनकी भावावेश की शैली में पाया जाता है; परंतु उन स्थानों में वह रोचकता तथा व्यावहारिकता नहीं मिलती जो उन विवरणों में अधिकता से प्राप्य है जिन्हें वे छोटे-छोटे वाक्यों में और चलती भाषा के सहयोग से देते हैं। जैसे :—

"पंजाब मेल का अव्वल दर्जा भी स्वर्ग का नमूना ही है। जैसे गंगा और हिमालय का मानचित्र पुस्तकों में वैसे ही पंजाब मेल के अव्वल दर्जे में बहिश्त का नक़शा मौजूद है। उसे अलकापुरी या अमरावती का नमूना कहना कोई बेजा बात नहीं है। हीरालाल बापू को अव्वल दर्जे में चढ़ाकर हमने इंजन से गार्ड के डब्बे तक दो दो बार चक्कर लगाया। हर एक खाने की चीज़ों पर दुहरी, पर गहरी नहीं, नज़र डालते हुए हम चक्करें काट रहे थे। बिजली-बत्तियाँ जल रही थीं। बिजली के पंखे दनादन चल रहे थे। खिड़कियों की राह जितनी आँखें स्टेशन की ओर झाँकती थीं, सब पर सुनहरी कमानीवाले चश्मे चढ़े थे। कुछ साहेब, झालरदार साफ़ तकियों के सहारे कमर के बल टेककर, समाचारपत्रों के पन्ने उलट रहे थे। किसी के दिमाग़ में 'एमडन' तैर रहा था। किसी के दिमाग़ में दमदम की गोलियाँ दनदना रही थीं और कोई 'हाविटज़र' तोप के गोलों की गड़गड़ाहट सुन रहा था। एक अँगरेज़ युवती जिसके सुनहरे बालों में बनावटी गुलाब के फूल गुंफित थे, एक अँगरेज युवक के साथ, हाथ में हाथ मिलाकर, टहल रही थी। कभी दोनों हँसते - हँसते अपनी अपनी घड़ियाँ मिलाते थे; और कभी अपने अपने चश्मे अदल- बदल परस्पर आँखों पर आँखें चढ़ाते थे।"

ऊपर कहा जा चुका है कि असहयोग आंदोलन का जो व्यापक प्रभाव हिंदी-साहित्य पर पड़ा उसी का व्यापक प्रभाव पांडेय बेचन शर्मा की रचनाओं में भी मिलता है। जिस उत्तेजनापूर्ण और प्रभावात्मक भाषा और शैली में राजनीतिक वितंडा उपस्थित किया जाता है उसी का अनुसरण पांडेय जी अपनी रचनाओं में करते हैं। इन रचनाओं को पढ़ते समय स्वभावतः वक्तृत्व का चमत्कार प्राप्त होता है। परंतु वस्तुतः विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करने पर वह वक्तृत्व का रूप नहीं ठहरता। वह कथन-प्रणाली का केवल विशिष्ट शक्तिशाली रूप है। एक ही साँस में समस्त भावावेश को कह डालने की एकांत चेष्टा में निरंतर आवेश झलकता है। सभी वाक्य इतने तुले हुए रहते हैं कि शैली से सुंदर ज्योति प्रकट होती है। एक वाक्य दूसरे वाक्य पर इस प्रकार आश्रित रहता है कि बीच में एक-दो वाक्य अलग कर देने से सारा वल नष्ट हो जाता है। जिस समय किसी व्यक्ति के हृदय में भावों की भयंकर आँधी उठती है उस समय वह अपने सामने उसकी व्यंजना का परिमित अवकाश पाकर झटपट एक आवेश के रूप में—उस भावना-संसार का जितना अंश बाह्य जगत् में लाते बनता है, रख देता है। जैसे :—

१८ पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'

"मैं कहता हूँ शासन के सूत्रधारों से—और उनके एक एक मंगल-मय विचारों से, मैं कहता हूँ देश के सुंदर खिलौनों से—और उनकी शैशव-मति सुकुमारता से, मेरा कहना सुनो—मुझे कहने दो।

"मैं कहता हूँ समाज के शिक्षालयों, बाल-संस्थाओं के देवताओं की 'ड्यूटी' पर नियुक्त 'कमज़ोर' मनुष्यों से, मैं कहता हूँ शहर शहर के गली-कूचों में रहनेवाले, डूबकर मछली निगलनेवाले, सत्तर चूहे खाकर दूसरों को हज करने का उपदेश देनेवाले—छुपे रुस्तमों से, मैं कहता हूँ आदर्श का नाम लेकर, प्रथा की दोहाई देकर, सत्य के मुँह पर ढोंग का लिफ़ाफ़ा चढ़ाकर अपने कंठ और स्वर को छिपाकर झिल-मिल गंभीरता के कंठ और स्वर से बोलनेवाले महाशयों से; मेरा कहना सुनो, मुझे कहने दो।

"है कोई ऐसा माई का लाल जो हमारे समाज को नीचे से ऊपर तक सजग दृष्टि से देखकर, कलेजे पर हाथ रखकर, सत्य के तेज से मस्तक तानकर, इस पुस्तक के अकिंचन लेखक से यह कहने का दावा करे कि—"तुमने जो कुछ लिखा है ग़लत लिखा है। समाज में ऐसी घृणित, रोमांच-

कारिणी, काजल-काली तस्वीरें नहीं हैं।' अगर कोई हो तो सोत्साह सामने आवे, मेरे कान उमेठे और छोटे मुँह पर थप्पड़ मारे, मेरे होश के होश ठिकाने करे। मैं उसके प्रहारों के चरणों के नीचे हृदय-पाँवड़े डालूँगा, मैं उसके अभिशापों को सिर माथे पर धारण करूँगा—सँभाल लूँगा। अपने पथ में कतर-ब्योंत करूँगा। सच कहता हूँ, विश्वास मानिए, 'सौगंद औ गवाह की हाजत नहीं मुझे'।"

उग्र जी की स्वाभाविक लेखन-शैली यही है। इसमें हमें संस्कृत तत्समता की उत्कृष्टता एवं अव्यावहारिक दीर्घ समासांत पदावली के दर्शन न मिलेंगे—उनसे ओत-प्रोत भाव-व्यंजना की जो अस्वाभाविकता होती है वह यहाँ न दिखाई पड़ेगी। साधारण—नित्य की—बातचीत में जिस भाषा का व्यवहार होता है उसका इतना सुंदर और प्रभावात्मक रूप हो सकता है, उपर्युक्त अवतरण इस बात का प्रत्यक्ष साक्षी है। विषय-प्रतिपादन की इस रोचक शैली में एक व्यक्तित्व मिलता है—वैयक्तिकता ही भाषा-शैली का प्रधान गुण है। एक ही आवेश में कई बातों का उल्लेख करना, एक ही बात को उलटकर पुनः कहना कितना रोचक एवं आकर्षक होता है। उसमें एक अटूट धारावाहिकता तथा भाव-व्यंजना का उग्र रूप प्राप्त होता है।

देश में जब से अँगरेजी भाषा के अध्ययन का अधिक प्रचार हुआ है, और प्रचार ही क्यों व्यवहार हुआ है, क्रमशः यह परिपाटी चल पड़ी है—अभ्यास पड़ गया है—कि जहाँ चार पढ़े-लिखे सज्जन उपस्थित हो जाते हैं और बातचीत आरंभ होती है वहाँ उस बातचीत के सिलसिले में अनेक शब्द अँगरेजी के आ जाते हैं। यह अस्वाभाविक नहीं है क्योंकि इसी प्रकार उर्दू का भी व्यवहार बढ़ा था। यह एक व्यापक नियम है कि जब दो भाषा-भाषी आपस में—किसी भी कारण से—मिलते हैं, तो स्वभावतः एक दूसरे की भाषा का क्रमशः बिना किसी उद्देश्य के व्यवहार करने लगते हैं। प्रथमतः इस विषय में कुछ चेष्टा करनी पड़ती है, पर अंततोगत्वा एक ऐसा समय उपस्थित हो जाता है जब एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा में अपने आप प्रयुक्त होने लगते हैं। 'उग्र' जी इसी व्यापक नियम से प्रेरित होकर एवं स्वाभाविकता उपस्थित करने के विचार से रचनाओं में—और प्रधानतः उन अवसरों पर जहाँ आजकल के

अँगरेजी पढ़े-लिखे विद्यार्थियों की बातचीत आती है—अँगरेजी के कितने ही शब्दों का व्यवहार करते हैं। वे 'स्टेज', 'सिनेमा', 'मास्टर', 'स्कूल', 'स्टूडेंट', 'हाल', 'प्रोग्राम' ऐसे नित्य के व्यवहार में आनेवाले शब्दों का व्यवहार करते पाए जाते हैं जो वस्तुतः अँगरेजी पढ़े-लिखों के अतिरिक्त जन-साधारण के व्यवहार-क्षेत्र से बाहर हैं। परंतु पंडित अंबिकादत्त व्यास की 'कक्षपुस्तिका' (Pocket book) का व्यवहार समीचीन नहीं। इससे अच्छा तो उस शब्द का ही प्रयोग है। इसके अतिरिक्त वे अनेक स्थानों पर अँगरेजी पदावली का ही व्यवहार करते हैं। यह भी केवल बातचीत की स्वाभाविकता उपस्थित करने के विचार से ही होता है। जैसेः—'I am very sorry', 'Stand up on the bench,' 'Well done, my young player !' 'Beg your pardon,' 'Try your utmost,' 'Don't lose,' 'Yes, come on,' 'Let us go and see what is the matter,' इत्यादि।

इस प्रकार के केवल अँगरेजी शब्दों अथवा पदावली का ही व्यवहार हुआ हो ऐसी बात नहीं। वाक्य-विन्यास में भी वह झलक उपस्थित है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार अँगरेजी में कथन का कुछ अंश कहकर कहनेवाले का उल्लेख होता है और तब पुनः कथन का शेष अंश आरंभ किया जाता है, उसी प्रकार उग्र जी ने भी किया है।—"अरे, यह क्या ?" हरनारायण बाबू ने अपने रूमाल से रामू के कपोलों को, हलके हाथ, दो-तीन बार स्पर्श करते हुए कहा—"आपकी ठुड्डी पर चूना लग गया था"; "यही"—मैंने उत्तर दिया—"बटुक-प्रेम की आदत। आप जानते हैं, समाज इन थिएटरवालों को किस दृष्टि से देखता है ?"; "पहला सवाल" मैंने मुस्कुराकर कहा—"मेरा होगा"; "चलिए"—मैंने कहा—"मैं उनसे मिलकर अपने को भाग्यवान् समझूँगा।" इत्यादि। हिंदी के पुराने लेखक लाला श्रीनिवासदास ने अपने "परीक्षा-गुरु" उपन्यास में इस प्रणाली का अनुसरण किया था। इस प्रकार के कथोपकथन की प्रणाली का अनुसरण 'भद्दा' नहीं तो अनावश्यक और अप्रयोजनीय अवश्य है। संभव है इसके पक्षपाती इसको स्वाभाविक कहें, परंतु अभी तक प्रचलित प्रणाली में कोई ऐसी अव्यावहारिक निर्बलता नहीं दिखाई पड़ती।

बाबू शिवपूजनसहाय की भाँति इन्होंने भी—कहीं-कहीं उनसे अधिक—विरामादि चिह्नों का प्रयोग किया है। वस्तुतः भावावेश की शैली में चिह्नों से बड़ा सहारा मिलता है। इनकी सहायता से भाव-व्यंजना में कुछ अधिक सुगमता आ जाती है। इसी सुगमता के कारण इन्होंने स्थान-स्थान पर वाक्यों में उलट-फेर किया है। इस उलट-फेर में नाटकत्व कम मिलता है। जैसे—"कभी करुणा आती थी—प्यारे की उस अवस्था पर—", "नहीं तो, देखते अभागिनी नर्गिस के इस निराश सौंदर्य को।"; "गई होती अदालत में बात तो लद गए होते"; "कैसे अच्छे थे वे दिन"; "इसी लिये तुमसे कहता हूँ, हँसी न समझो मेरी बात को।"; "मत चूमने दो किसी पुरुष को अपने होठों को, मत मलने दो किसी मतवाले को अपने गालों को, मत सटने दो अपनी कोमल छाती को किसी राक्षस के वज्र-हृदय से।"; "वह आया है—उनको जीवन देने जो कि प्राणों के रहते मृतक बने हैं।" इत्यादि। परंतु यह बात कहीं-कहीं बहुत अस्वाभाविक ज्ञात होती है। बहुत अधिक उलट-फेर भी सर्वत्र अच्छा नहीं होता। जैसे—"तुम दे जाने को थे, रामायण की एक अच्छी कापी", अथवा "मत बनाओ, अभी से इंद्रियों के दास बनकर अपने को देवता से राक्षस।" इन वाक्यों में भाषा की प्रकृति से अधिक इतना उलट-फेर हुआ है कि व्यावहारिकता कोसों दूर भागी है। बोलचाल अथवा कथोपकथन में इतना उलट-फेर स्वाभाविक नहीं हो सकता। लिखने के आवेश में यदि लेखक कहीं ऐसा लिख जाय तो साधारण बात होगी, ऐसा नहीं माना जा सकता।

इनमें भी अन्य लेखकों की भाँति आलंकारिकता, स्थान-स्थान पर, मिलती है। परंतु इनकी आलंकारिकता में भी व्यावहारिकता रहती है। इनके उपमान स्वाभाविक होते हैं। उनका अनुमान हम सरलता से कर सकते हैं। इसके लिये काल्पनिक उन्माद अथवा अनुभूति की आवश्यकता नहीं पड़ती जैसा कि बाबू जयशंकरप्रसाद एवं राय कृष्णदास में आवश्यक था। जैसे—"आखिर लड़कों ने बछड़ों की तरह सिर से भीड़ चीरकर अपने लिये रास्ता बना लिया।", "वह प्रभात की तरह सुंदर और रुपए की तरह आकर्षक था।", "हम लोग सौत के लड़के की तरह मुँह ताकते ही रह गए।", "हेरोदिया इस समय वसंत ऋतु की पुष्पमयी वाटिका की भाँति सुंदरी

है और शरद-पुष्करिणी की तरह कूल-काम-तरंगमयी है।", "मेरी अनेक दुर्बलताओं के साथ, 'ज्ञानमंडल' प्रेस की दुर्बलताएँ ऐसी मिल गई हैं जैसे फ्रांस के साथ ब्रिटेन।", "वह सोने की ढेर की तरह तेजोमयी और हीरे की तरह 'चमचमा' रही थी।", "दूध पानी की तरह मिले पड़े थे।", "मालूम पड़ने लगा (मानों), खालिस गुलाब की पंखड़ियों की पुतली मेरी साइकिल का हैंडिल पकड़े खड़ी है।", "सीरी चुप रही, बेत की तरह, पीपल के पत्ते की तरह, काँपती रही।" इत्यादि में जितने उपमान आए हैं सभी का दर्शन हमें नित्य-प्रति होता रहता है। उनकी अनुभूति के लिये हमें अपने मस्तिष्क को, गूढ़ चिंतन के लिये कष्ट नहीं देना पड़ता। परंतु उपमानों में नवीनता अवश्य है। साथ मिलने के लिये फ्रांस और ब्रिटेन का उपमान कितना नवीन और विचित्र है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उग्र जी की भाषा-शैली प्रत्येक भाँति स्वाभाविक, व्यावहारिक एवं नवीन भाव-व्यंजना से पूर्ण है। लेखक को जिस संसार में अपना संदेश पहुँचाना है वह वस्तुतः इसी प्रकार की भाषा का ग्राहक और प्रेमी है।

आवश्यक स्थानों पर, एक साधारण बात को, लेखक जब बल-विशेष देना चाहता है तो उसी जोड़-तोड़ की कई भावनाओं को, उसी प्रकार के नपे-तुले छोटे-छोटे वाक्यों में लिखकर, उसमें एक चमत्कार उत्पन्न कर देता है। उस चमत्कार के साथ-साथ कथन-प्रणाली में अच्छी शक्ति आ जाती है। इस कथन में भाव-व्यंजना की विशदता पाई जाती है। ऐसे स्थानों पर लेखक चाहे तो छोटे से वाक्य में ही समस्त भाव को कसकर रख दे, परंतु ऐसा अभिप्रेत नहीं। वह संश्लिष्ट चित्रण चाहता है। "न रोता था और न हँसता ही था, न काँपता था और न हिलता ही था।"; "उसकी आँखें, लाल थीं, कपोल पीले, और ओंठ सुफ़ैद, बिखरे बालों और अस्त-व्यस्त वस्त्रोंवाली वह अभागिनी शून्य सी खड़ी थी।"; "चारों ओर डंडा-शाही, ईंटा-शाही, छुरा-शाही, तलवार-शाही, औरंग-शाही और नादिर-शाही का बोलबाला था। धूर्त नौकर-शाही, अप-वित्र नौकर-शाही और इन सब खुराफातों की जड़ नौकर-शाही इस समय घूँघट में मुँह छिपाए है।"; "उनकी आँखों में मादकता थी, स्वर में करुणा थी और उनके मुख पर के भावों में था मदांध-

पूर्ण प्रेम !"; "खाने न दें !"; 'तुम पुरुष हो - तुम देवता हो—तुम ईश्वर हो—तुम इन पापियों से हमेशा दूर रहो। हे सुकुमार, हे प्यारे, हे कुलों के प्रकाश और घरों के दीपक ! सावधान!", "नहीं तो मुख पर कालिख पुत जाने पर, इन सुंदर ओठों की लाली सूख जाने पर, इन आँखों का पानी मर जाने पर, संसार में तुम्हें घृणा ही घृणा का सामना करना पड़ेगा।", इत्यादि।

इस प्रकार की कथन-प्रणाली में अंशतः भाव-व्यंजना की प्रगल्भता और अंशतः भावावेश का प्राबल्य पाया जाता है। इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर कथन-शैली का नाटकीय आवेश बड़ा ही मनोरम और प्रभावात्मक मिलता है। उसमें से व्यंजनात्मक विशदता कहीं जा नहीं सकती। उसमें सुंदर आकर्षण और स्वाभाविकता रहती है। जैसे—"वह आया है—उन अंधों को आँख देने जो कि देखते हुए भी कुछ नहीं देखते। उन बधिरों को कान देने जो कि सब कुछ सुनते हुए भी कुछ नहीं सुनते हैं। उन पंगुओं को पैर और लूलों को हाथ देने जो कि इनके रहते हुए भी अकर्मण्य बने हैं।"; "देशभर को सत्याग्रह के लिये तैयार करो। सब के कानों तक अहिंसा का संदेश पहुँचा दो। अत्याचारी हो या पीड़ित, राजा हो या प्रजा, पिता हो या पुत्र, पति हो या पत्नी—सब से कह दो कोई अपनी आत्मा का अपमान न करे।"; "उसने कहा है कि तुम्हीं ने उसे वह पापकर्म सिखाया है। तुम्हीं उसके साथ वैसा नारकीय व्यवहार करते हो।", इत्यादि।

थोड़े में यही कहा जा सकता है कि पांडेय बेचन शर्मा की भाषा-शैली में नवीन युग का उत्कर्ष है, आंदोलनात्मक उत्साह है, कथन का परिष्कृत सौंदर्य है और भावावेश की उग्रता है। दार्शनिक और सूक्ष्म गवेषणा का शांत विवेचन इस प्रकार की भाषा में भले हो न हो सके परंतु भावों के वेग का स्वाभाविक चित्र इसमें अवश्य उपस्थित किया जा सकता है। शांत तथा गंभीर विषयों का निदर्शन इसमें सफलता-पूर्वक न हो सके ऐसा स्वाभाविक है, परंतु वाद और विवाद, कथन और प्रतिपादन, आंदोलन और प्रचार के वातावरण के अनुकूल यह अवश्य है। वाग्विधान का यह स्वरूप जिस वायुमंडल में उत्पन्न हुआ है उसकी प्रतिष्ठा वहीं हो सकती है। इस भाषा की व्यावहारिकता ने शैली को एक नवीन कांति दी है।

विषयानुकूल भाषा को रखना पांडेय जी ने भली भाँति सीखा है। साथ ही पात्र के अनुकूल भाषा का होना स्वाभाविक है, इसका भी उन्होंने निर्वाह किया है। जैसे:—

"इस मुल्क की औरतों पर आपका 'रिमार्क' एक ही रहा। अपनी 'औरत' की गुस्ताखी माफ़ कीजिएगा, क्या मर्दों के हाथ में औरतों के दिलो-दिमाग़ का, दीनो-दुनिया का, बहिश्तो-दोज़ख का ठेका है? मर्द जिसे कहे औरत उसी को प्यार करे। उसी के गले पड़े। उसी को अपना बनाए। औरतें गंदी हैं, औरतें बेवकूफ़ हैं, औरतें ग़ुलाम हैं, औरतें बदतहज़ीब हैं और बेतमीज़ हैं—यानी दुनिया में सबसे अगर खराब हैं तो औरतें हैं। फिर, बंदापरवर! आप मर्द लोग, जो अपनी सफ़ाई, अक़्लमंदी, बहादुरी और तहज़ीब के लिये मशहूर हैं, औरतों को नेस्तोनाबूद क्यों नहीं कर देते? यही कीजिए और ज़रूर कीजिए, बड़ा सवाब होगा। दुनिया (अमेरिका, जापान, इँग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, रूस, चीन, तुर्की) औरतों को आज़ादी दे रही है। हुजूर के मुल्क के मर्दों को चाहिए कि दुनिया के खिलाफ़ बग़ावत करें। औरतों को जेल में रखें। खाने न दें, सुनने न दें, प्यार करने न दें। और पढ़ने-लिखने तो ज़रूर न दें। अगर आपके मुल्क को 'बाग़े-अदन' और मर्दों को खुदा कहा जाय तो बुरा न होगा। आप लोग हम औरतों को समझा दिजिए कि इल्म ही वह 'फ़ारबिडेन ट्री' है जिसका फल खाने की आज्ञा नहीं। औरत भी 'आदम' और 'ईव' की तरह, इल्म के पेड़ के फल खाकर चौकन्ना हो जायँगी, होश में आ जायँगी। इसलिये जो औरत आप (खुदाओं) की बात न माने, उसे अपने 'सोशल पैराडाइज़' (सामाजिक स्वर्ग) से निकाल बाहर कीजिए। मगर, याद रहे; उनमें पहला नंबर अपनी असग़री का ही रखिएगा।"

इस अवतरण में उर्दू शब्दावली तो अवश्य है; पर उर्दू शैली की छाप वाक्य-विन्यास में नहीं दिखाई पड़ती। वाक्यों का क्रम भी इधर-उधर नहीं हुआ है। आत्म-निवेदन ही में नहीं वरन् विचार-पद्धति में भी भारतीय संस्कृति झलकती है। लेखक ने एक मुसलमान महिला की स्वाभाविक भाषा लिखने का प्रयत्न किया है। परंतु "आज्ञा" और "फल" ऐसे शब्दों का व्यवहार नहीं बचा सका अथवा बचाया नहीं गया। इस देशी-विदेशी भाषा के झगड़े से जब लेखक अलग दिखाई पड़ता है तब उसकी भाषा में ही नहीं परिवर्तन हो जाता प्रत्युत भाव-व्यंजनात्मक प्रणाली में और भाषा की साधारण

वेश-भूषा में भी अंतर उपस्थित हो जाता है। जहाँ 'ईसा', 'हेरोद' और 'शांति' (विवेकानंद की पुत्री) सभी एक भाषा का अनुसरण करते पाए जाते हैं वहाँ भाषा में परिष्कार और कांति पाई जाती है। क्योंकि संगठन में और शब्द-योजना में काव्योचित उत्कृष्टता प्राप्त होती है। इन स्थानों में भाव-निदर्शन में आलंकारिकता विशेष मिलती है। व्यंजनात्मक गंभीरता के साथ साथ भाषा में भी स्थिरता आ गई है। जैसे:—

"शांति, तुमने मुझे देखकर अपना गाना क्यों बंद कर दिया? देखती हो तुम्हारे पाले हुए मृग-शावक मेरी ओर कैसी क्रोध-पूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं। मानो मैंने उनका कोई सुख छीन लिया है। आम वृक्ष पर बैठी हुई मौन कोकिला मुझे देखते ही बोल उठी—मानो कहती है कि इस समय चले जाओ। मेरे आनन्द के बाधक न बनो। मयूर—जो अभी तक तुम्हारे गान पर मुग्ध होकर नाच रहे थे—अब अपने सहस्र नील-चंद्रांकित पक्ष को समेट-कर उदास खड़े हैं।"

"आज से दस वर्ष पहले की घटना मुझे ज्यों की त्यों याद है शांति! तब तुम्हारी अवस्था केवल पाँच वर्षों की थी। एक दिन राजगृही वाले उद्यान से कदंब-वृक्ष के नीचे एक युवक बैठकर माला गूँथकर तुम्हें प्रसन्न कर रहा था। उस समय आकाश में पूर्ण-चंद्र तुम्हारी बाल सुलभ चपलता को देख देखकर हँस रहा था। और निशा सुंदरी निःस्तब्ध होकर तुम्हारी और उस युवक की बातें सुन रही थी। कुछ याद आती है।"

"हेरोदिया इस समय वसंत-ऋतु की पुष्प-मयी वाटिका की तरह सुंदरी है और शरद-पुष्करिणी की तरह कूल-काम-तरंगमयी है। ऐसे अवसर को हाथ से जाने देना नितांत मूर्खता है। ओह! उसके रूप की मादकता देखकर मदिरा का रंग उड़ जाता है। उसके ओठों की लालिमा देखकर प्रभात का सूर्य उषा को भूल जाता है और भरसक शीघ्रता करके हेरोदिया के भवन-शिखर पर उसके दर्शनार्थ पहुँचता है। ऐसी सुंदरी का केवल लोका-पवाद के भय से त्याग करना कदापि उचित नहीं। मैं इस समय यहूदिया का सम्राट् हूँ, कर्ता, धर्ता और हर्ता हूँ। हमारा कोई क्या बिगाड़ लेगा? हँ, हँ,—मूर्ख कहते हैं कि छोटे भाई की स्त्री पर दृष्टि डालना पाप है। राजा के लिये कोई कर्म भी पाप नहीं कहा जा सकता। वही पाप और पुण्य का नियंता है। जिस तरह से सृष्टि को सब वस्तुओं का सम्राट् बनाया है—उसी प्रकार मनुष्यों का सम्राट् भी अपनी प्रजा के साथ स्वेच्छाचार कर सकता है।"

गद्य के क्षेत्र में काव्यात्मक अभिव्यंजना की पद्धति पं० गोविंद-नारायण मिश्र और पं० बदरीनारायण 'प्रेमघन' के यहाँ से चलकर वर्तमान काल में श्रीवियोगी हरि, 'प्रसाद' एवं 'हृदयेश' तक पहुँची। इन लोगों की शैली, काव्यात्मक होने पर भी, अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण एक-दूसरी से पृथक् दिखाई पड़ती है। 'हृदयेश' के लिये अनुरागमयी प्रकृति का अनंत सौंदर्य मूर्तिमान मानव में ही व्यंजित होता था। वे प्रकृति के अपार वैभव और चेतना के प्रसार को मनुष्य और उसकी आभ्यंतरिक प्रवृत्तियों तथा बाह्य चेष्टाओं में प्रतिबिंबित पाते थे; उसी प्रसार को उल्लासपूर्ण हृदय से निरंतर देखा करते थे; उसी का चिंतन, दर्शन और कथन उनके जीवन का प्रधान अनुरंजन था तथा उसी की माधुरी में उनकी संपूर्ण भावनाएँ स्नात सी थीं। यही कारण है कि मानव को कृतिकार उसी महामाया सुंदरी प्रकृति का सर्वोत्तम प्रतिनिधि मानता था। जो अलौकिक, प्रकृत और दृढ़ संबंध उन दोनों में सृष्टि के आरंभ से ही चला आ रहा है उसी के स्पष्टीकरण में वह अपना जीवन लगाना चाहता था और उसी को अपनी रचनाओं का मूल प्रेरक-भाव बनाना चाहता था।

चंडीप्रसाद 'हृदयेश'

'हृदयेश' की यही आंतरिक भावनाएँ जब भाषा के माध्यम द्वारा बाह्य जगत् में प्रकट होती थीं तब उस भाषा पर भी उनकी छाप लग जाती थी। लेखक की सभी रचनाएँ एक प्रकार की ही भाषा में लिखी गई हैं। उस भाषा की प्रधान विशेषताएँ हैं—काव्यात्मक पदावली और अभिव्यंजना, उल्लास और उद्वेग। कोई बात भी सीधे ढंग से, सरल और व्यावहारिक शब्दों में नहीं की गई। इतिवृत्त, कथन, वस्तुव्यंजना, भावाभिव्यजन और आंतरिक वृत्तियों का विश्लेषण——सभी आलंकारिक तथा साहित्यिक भाषा में हुआ है। 'हृदयेश' में संस्कृत की तत्समता अत्यधिक होते हुए भी उस प्रकार की समासांत पदावली का प्रयोग नहीं दिखाई पड़ता जैसा कि इसी वर्ग के कुछ अन्य लेखकों में प्राप्त हुआ है। यों तो उपसर्गों का उपयोग इन्होंने भी अधिक किया है। 'परियुक्त,' 'प्रलेप,' 'विनिर्गत', 'परिपालन', 'प्रोद्यत', 'प्रधावित', 'उद्घोषित', 'समुपस्थित', 'परिलक्षित', इत्यादि शब्द उपसर्ग का प्रेम प्रमाणित करते हैं। इसी प्रकार की शब्दावली उनकी संपूर्ण रचनाओं में भरी है। लेखक में शृंगार

एवं शांत रस की ही अधिकता है अतएव मधुर पदावली का प्रयोग सर्वथा अनुकूल ज्ञात होता है। परंतु अन्य उग्र रसों की अभिव्यक्ति इस भाषा में कदापि उपयुक्त न होगी।

लंबे समासों का प्रयोग लेखक ने बचाया है। यह अच्छा ही हुआ, अन्यथा तत्समता की दुरूहता के कारण समासांत पदावली भाव-बोधन में उग्र अवरोध उत्पन्न करती। यों तो कहीं-कहीं समास प्रयुक्त हुए हैं परंतु वे सभी तीन-चार शब्दों तक ही परिमित हैं। 'गृह-संलग्न-उद्यान' 'तुषार-जल-कण-सिक्त', 'गुलाब-दल-कोमल-क्रोड़', 'क्षीर-धौत-प्रफुल्ल-लक्ष्मी', 'चंद्रिका-चर्चित-दूर्वादल,' 'श्याम-पृथ्वी-खंड', 'पुष्पित-फलित-वनराजि-श्यामलता', 'गिरि-निर्झर-वेष्ठिता', 'गिरि-निर्झरिणी-तट', 'अश्रु-पूर्ण-लोचना', 'मराल-मंडिता-मंदाकिनी', 'कल-हंस-कूजिता-कालिंदी' इत्यादि। ये समास संस्कृत की घोर तत्समता के प्रवाह में अधिक खटकते नहीं। इनके कारण भावों की अभिव्यंजना में भी अधिक दुरूहता नहीं उत्पन्न होती। इन्हें समास-प्रयोग की सीमा ही समझनी चाहिए। इसी प्रकार के समास और उपसर्गों से युक्त संस्कृत की कोमल पदावली में 'हृदयेश' की कहानियाँ और उपन्यास लिखे गए हैं। उर्दू के कुछ व्यावहारिक और चलते शब्द कहीं कहीं मिलते हैं—वे भी कथोपकथनों में; जैसे—ज़रूर, तैयारी, हिस्सा, हज़रत, खुशी, ज़रा, हवा इत्यादि। संपूर्ण रचना में संभवतः दो चार वाक्य ऐसे मिल जायँ जिनमें उर्दू शब्दों का बाहुल्य हो; जैसे—"हमारे पास परवाना आया है कि फ़ौरन-दरबार ख़ास में हाज़िर हो।" कथोपकथन के अंशों को छोड़कर सर्वत्र एक सी भाषा प्रयुक्त हुई है।

काव्यात्मक अभिव्यजना में सादृश्य-मूलक अलंकारों का विशेष योग रहता है। भावोन्मेष में इनकी सहायता आवश्यक होती है। यों तो 'हृदयेश' की रचनाओं में अनुप्रास, संदेह, उदाहरण, दृष्टांत इत्यादि का भी प्रयोग प्रायः दिखाई पड़ता है परंतु उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक का ही आधिक्य है। उपमा में अप्रस्तुत और धर्म का संयोग, उत्प्रेक्षा में कहीं व्यावहारिकता और कहीं सर्वथा काल्पनिकता का समावेश तथा रूपक में एकत्व का सुंदर निर्वाह सभी स्थानों पर प्राप्त होता है। इन अलंकारों के प्रयोग में लेखक की भावुकता, चातुरी और प्रतिभा का अच्छा रूप दिखाई देता है। कहीं-कहीं एक ही उपमान और उपमेय का सादृश्य अथवा एकत्व वर्णित है और कहीं-कहीं अनेक

अप्रस्तुत और सांग-रूपक मिलते हैं। ऐसे स्थलों पर कथांश का विकास इन्हीं के आधार से होता है। "उन्होंने कुंज के द्वार पर जाकर देखा कि सरोजिनी अपने सुमन-सुंदर कर से एक फूलों की माला गूँथते-गूँथते अपने ही आप मंद स्वर में अलाप रही है। मधुर ध्वनि को सुनकर मानो सुमन हँस रहे हैं। आत्म-विस्मृत होकर सरोजिनी के हाथ से प्रेम-सूत्र में बंदी हो रहे हैं। कैसा दृश्य था, उषादेवी सुमनों को मानों सूर्य की किरणों में गूँथ रही थी। कवितादेवी मानो ललित भावों को शब्द-सूत्र में पिरो रही थी। वसंत-श्री मानो विकसित पुष्पों का चंद्रहार बना रही थी। सुंदरता मानो विभिन्न मन-सुमन-समूह को एक में बाँध रही थी। चंद्रिका-चर्चित-यामिनी मानो नक्षत्र-श्रेणी को चंद्रमा की स्निग्ध रश्मि में गूँथ रही थी। कुसुम-कली मानो कर-स्पर्श से रोमांचित हो रही थी। हँस-हँसकर सरोजिनी के कर-पल्लव को चूम रही थी", "मंदाकिनी के गुलाव-दल-कोमल-क्रोड़ में चंद्रमा निर्बोध-प्रकृति योगी बालक की भाँति हँस रहा है। मंदाकिनी मानो वात्सल्य-रस की धार होकर बह रही है। प्रकृति मानो विश्व को समीर-कर की थपकियों से सुला रही है", "हिमालय के सुवर्ण-शृंग पर कल्लोल करनेवाली अनेक कल्लोलिनी अनंत सिंधु में मिलकर एक हो जाती है; मानव-प्रवृत्ति विभिन्न धर्म-धाराओं में प्रवाहित होकर अंत में अनंत आनंद के क्षीर-सिंधु में तल्लीन हो जाती है।" "मंदा-किनी कलित कंठ से मानो स्वर्गीय संगीत गा रही थी। मंद मंद वायु भगवान् के पवित्र विश्वास की भाँति थिरक रही थी। रात्रि-विहारी पक्षी कभी कभी आनंद के आवेश में देववाणी की भाँति कूक उठते थे।" "देवी के अंग की आभा में चाँदनी क्षीर-सिंधु में मंदाकिनी की भाँति विलुप्त हो गई।" ऐसी भाषा में अनुप्रास के सौष्ठव का महत्व लेखक भली भाँति समझता था, अतएव सर्वत्र उसमें सानुप्रा-सिकता मिलती है। अधिकांश अनुप्रास केवल दो-दो और तीन-तीन शब्दों तक चले हैं, परंतु कहीं-कहीं उसमें भी विस्तार दिखाई देता है; जैसे—"वे सत्य के समान सरल और स्वर्ग के समान सुंदर होते हैं।" "पार्वत्य प्रदेश", "मेघ-माला", "मत्त मातंगिनी", "पीयूष-प्रवाह", "प्रमदाओं के प्राबल्य का पूरा-पूरा प्रमाण पाकर", "प्रेम-प्रभु का पुजारी", "विघ्न-बाधाओं को बाधा देकर बढ़ने लगा", नंदन-कानन के सौरभमय सुमन की भाँति समस्त संसार को सुवासित

करता है।" "मायामयी मरीचिका", "पतंग-प्रिया पद्मिनी, प्रोषित-पतिका की भाँति", "कल्पना के कलित कलेवर में शीतल समीर ने सुरभित सुमन-समूह का पराग लेकर अंगराग लगाया।" "कनक-कुज में बैठकर कलित-कंठ-कोकिला कोमल कुसुम को जगाने के लिये प्रभाती गा रही थी।" "शक्ति के समिलित सार का वह साकार स्वरूप था।" इससे अधिक आनुप्रासिकता गढ़ी हुई प्रतीत होगी; अतएव अनुप्रास युक्त छोटे-छोटे वाक्यांश ही सुंदर और प्रकृत ज्ञात होते हैं।

इस प्रकार के लेखकों में निरर्थक वागजाल प्रायः मिलता है। दो शब्दों में कही जानेवाली बात के लिये निरर्थक दस शब्दों का व्यवहार भाषा में शिथिलता उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त पाठक को भी निरर्थक भार वहन करना पड़ता है। "इस असार संसार को छोड़कर अक्षय स्वर्गधाम को प्रस्थान कर गए।" "उसकी माता ने इस मत्सरमय विश्व को छोड़कर महामाया का पुण्य आश्रय लिया था।" 'स्टेशन पर लालटेन जल रही थी' न कहकर—"इतने घोर अंधकार में भी गैस का दीपक, सकल विघ्नों को पददलित करता हुआ अपने तीक्ष्ण प्रताप से अरिकुल का नाश कर रहा था" कहना निरर्थक वाग्विस्तार ज्ञात होता है। इसी प्रकार के ये भी उद्धरण हैं—"सुख के दिन कट जाते हैं और दुख के क्षण कल्प-काल के तुल्य प्रतीत होते हैं।" "दर्शन मिलना वास्तव में दुर्लभ वस्तु का प्राप्ति के समान है।" "सुभद्रा धीरे-धीरे शास्त्रों के गंभीर वन-प्रदेश में आनंदपूर्वक विहार करने लगी।" "ब्राह्ममुहूर्त में प्राची दिशा के सौभाग्योदय से कुछ पूर्व", "दो एक हार मेरे कंठ-देश में दोलायमान थे।" भाँग की लाली आँखों में छाई थी—इसके लिये एक लंबा वाक्य प्रयुक्त हुआ है। "रंगमयी विजया की अनुरागलालिमा मेरे लोचन-युगल में छाई हुई थी।" इस प्रकार के वाग्विस्तार-युक्त, निरर्थक लंबे बनाए हुए सैकड़ों वाक्य मिलेंगे। मुहाविरों का प्रयोग प्रायः नहीं के समान है। इस शैली में उनका प्रयोग होना ही कठिन है। यों तो साधरण और अत्यंत व्यावहारिक मुहाविरे कहीं-कहीं मिल जाते हैं परंतु अधिकांश उनके बचाव की ही चेष्टा दिखाई देती है; जैसे 'आँखें चार हुई' के स्थान पर "लोचन पर लोचन गए" लिखा गया है। इस प्रकार की रचना बड़ी भद्दी मालूम पड़ती है।

यदि केवल वाग्विस्तार हो तो उतना न खटके, उसके साथ सर्वनामों और विभक्तियों का अधिक और निरर्थक प्रयोग बड़ा अनुचित ज्ञात होता है। द्वितीया और सप्तमी की विभक्तियों का अशुद्ध प्रयोग भी मिलता है, साथ ही सर्वनामों की अधिकता के कारण एक ही वाक्य को कई बार पढ़ना पड़ता है। विभक्तियों के आगे-पीछे भी निरर्थक 'करना', 'सहित' इत्यादि लगे मिलते हैं। ये अवांछित अव्यवस्थाएँ भाषा को शिथिल बना देती हैं। इन उद्धरणों को देखिए—'अपने नौकरी के कर्तव्य के परिपालन करने के लिये उसे अवश्य ही जन समुदाय के बीच में, स्वार्थ और संसार के कोलाहल में, विचरना पड़ता था किंतु ज्यों ही वह अपने काम से अवसर पाता त्यों ही वह प्रकृति के निर्जन नीरव निकुंज में बैठकर बड़े उल्लास के सहित ( से ) उसी दिव्य '; 'किंतु उसकी सबसे बड़ी प्रसिद्धि इस बात में थी कि वह सबके दुःख में दुखी होता था, पर वह किसी के सुख में सुखी नहीं होता था।' 'शीतल शांति को प्राप्त करते थे।' 'जिस प्रकार वे पांडित्यमयी भाषा में गंभीर समस्या की मीमांसा करके विद्वानों को विमुग्ध कर देते थे, उसी प्रकार पुराणों की कथाओं को सरल बोधगम्य भाषा में कहकर वे बालकों की भूख-प्यास को हर लेते थे। 'उसे वे अपने कमरे में किसी काम के बहाने बुलाकर रात-दिन वे उसका दस पाँच बार दर्शन कर लेते', 'वह प्रत्येक भगिनी, पति एवं पर-पुरुष को आलिंगन करने के लिये इतने उद्विग्न हो उठें कि, वे···सतीत्व को बह जाने दें', 'अपूर्व अनुराग को प्रकट कर फूलों की चटकारी के मिस से हँस रही है, 'देवता का आशीर्वाद ही साकार स्वरूप को धारण करके', 'पर जब वह दिन भर के उपरांत अपने कर्तव्य कर्म से अवकाश पाता तब वह गुरुदेव के पादपद्म में आकर बैठ जाता', 'उन्होंने वसंत को उठाकर हृदय से लगा लिया, उसे उन्होंने सांत्वना दी। उसे लेकर वे ऊपर गए।' 'एक दिन महेश्वर भी कृष्ण के बाल-स्वरूप के सुंदर दर्शन के लिये यशोदा के द्वार पर त्रिसुक के रूप में गए।" इस प्रकार के विभक्ति-प्रयाग से पाठक वाक्य के अंत तक आते-आते पूर्वांश के शब्द और विभक्ति-चिन्हों के संबंध भूल जाता है और उस वाक्य को बिना दो-चार बार पढ़े भाव स्पष्ट नहीं होता।

'अन्नपूर्णा भी इधर सुभद्रा के *लिये* रात दिन स्मरण करती है।' इस वाक्य में चतुर्थी के स्थान पर द्वितीया की विभक्ति रखनी चाहिए। 'जब से सुशीला के गर्भ स्थिति हुई है' यहाँ 'की' चाहिए। 'वह उसके कैशोर और यौवन के अभिनयों की रंगभूमि वह उसके प्रथम प्रणय का स्मृति-मंदिर था।' यहाँ दूसरा सर्वनाम 'वह' निरर्थक है। 'रंगभूमि' के उपरांत या तो अर्धविराम चिह्न चाहिए अथवा 'और' संबंध-सूचक शब्द।

वाक्यों की विहित योजना में निरर्थक व्यतिक्रम करना आजकल के लेखकों की एक विशेषता बन गई है। इसका प्रेम क्यों बढ़ रहा है यह तो कोई नवीन आविष्कर्ता ही बताएगा। 'हृदयेश' में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। कहीं-कहीं तो उसका उचित और उपयुक्त ढंग से प्रयोग मिलता है परंतु अधिकांश स्थानों में निरर्थक ही ज्ञात होता है। उद्धरण थोड़े से दिए गए हैं, परंतु वे स्पष्ट हैं। 'सेवा का पाठ सीखो, अपने चारों ओर फैले हुए पंचतत्त्वों से और उनकी अधीश्वरी महामाया प्रकृति देवी से', 'जमींदार के प्रमोद वन में, मौलश्री के वृक्ष के नीचे, फूली हुई गुलाब लता के पास, देवी सुभद्रा खड़ी है और उनके सामने विनम्र भाव से खड़े हैं सेवा संकल्पधारी ब्रह्मचारी वसंतकुमार', 'सतीश का हृदय हाहाकार कर उठा और उस घोर हाहाकार के बीच में दैवी शोभा की भाँति निर्विकार भाव से आविर्भूत हुई सुंदरी यमुना की ललित लावण्यमयी प्रतिमा', 'वह पहनती थी केवल एक स्वच्छ शुभ्र साड़ी और उसके उन्नत पीन पयोधर आच्छादित होते थे एक खद्दर की जाकट द्वारा।' 'और इस पृथ्वी की गोद में उससे भी अधिक उल्लास के साथ खिलखिला रहा है तुम्हारा यह ललित लावण्य'। इसके अतिरिक्त कुछ पुराने और पंडिताऊ प्रयोग भी दिखाई पड़ते हैं, जैसे—'कारण कि' (क्योंकि), 'कि' और 'मानो' का अथवा 'तो' और 'भी' का साथ-साथ प्रयोग।

कहीं-कहीं अव्यावहारिक एवं अनुचित प्रयोग भी दिखाई पड़ते हैं परंतु ये अधिक नहीं हैं, जैसे—'जब तक ये बोलते रहे थे', 'कहने का तात्पर्य (की आवश्यकता) नहीं कि तीनों ही ने उस दिन वसंत के घर पर भोजन किया', 'किसी को किधर ही से (किसी तरफ से) निकलने के लिये मार्ग नहीं मिलता था', 'जब मैं उपनिषदों की

व्याख्या करता होता हूँ', 'महाशय! आप को भी वर्णन न कर आया (करने न आया)', 'वस्त्र प्रायः नित्य ही धोए जाकर (Having been washed) साफ किए जाते थे।' इसी प्रकार 'अनाहत' (आहत), 'एकांत' (सर्वथा), 'विशद', 'तारतम्य' इत्यादि शब्दों का अशुद्ध प्रयोग भी पाया जाता है। वाक्य भी ऐसे मिलते हैं जिनकी योजना अशुद्ध और भाव अस्पष्ट रह गए हैं। बहुत विचार करने पर अभीष्ट अर्थ की कल्पना हो पाती है। कहीं-कहीं तो इसका कारण विरामादि चिह्नों का अशुद्ध प्रयोग मालूम पड़ता है। जैसे—'किंतु मेरे लिये आपकी इच्छा के विधान को समयपूर्वक, श्रुति-वाक्य से भी अधिक श्रद्धा के साथ, पालन करना परमधर्म है',[१] 'हृदय की प्रबल प्रेरणा से परिपालित होकर वे उसी ओर को धीरे-धीरे, उस मधुर गान को सुनते-सुनते ठीक उसी तरह अग्रसर होने लगे, जैसे मृगी वीणा-स्वर से आकृष्ट होकर उसी ओर को चलने लगती है।'[२] 'कोमल पल्लवों की छाया में विनम्र वदन होकर विकसित होनेवाला गुलाब जैसे सहसा शिशिर-सूर्य के उज्ज्वल आलोक में निकलकर हँसने लग जाय, कवि की उपमा-सुंदरी अलंकारमयी वाणी में हम वसंतकुमार के उस गंभीर शोभा के हास्यमय परिवर्तन को इस प्रकार परिव्यक्त कर सकते हैं।'[३] वाक्यों में 'भी', 'ही', 'तो', इत्यादि की भी अनुचित स्थापना हुई है जिसके कारण भाव-बोधन में दुरूहता उत्पन्न हो गई है।

विरामादि चिह्नों का प्रायः अनियंत्रित प्रयोग हुआ है, जिससे अभिव्यंजना अस्पष्ट और वाक्य-योजना दुर्बल हो गई है। इन प्रयोगों को देखकर कहा जा सकता है कि लेखक को इन चिन्हों की उपयोगिता का ज्ञान कम था। यों तो इस सबंध की अव्यवस्था सर्वत्र दिखाई पड़ेगी परंतु प्रमाणरूप कुछ उद्धरण यहाँ दिए जाते हैं—'वात्सल्य ही अमृतत्व है। और अमृतत्व ही पर्याय है उज्ज्वल मुक्ति का', 'मेरा और तुम्हारी इस जन्मभूमि का आशीर्वाद तुम्हारी अक्षय कवच की भाँति रक्षा करेगा', 'कठोर-हृदय वीर रूप के संमुख कोमल-हृदय हो जाता है', 'मेरी चचेरी भाभी हैं—उनका स्वभाव

१. वनमाला ( अमृतत्व ) पृ० ५
२. वनमाला ( मुसकान ) पृ० ३४६।
३. मंगल-प्रभात—पृ० १२।

तुम जानती ही हो—वह बड़ी कर्कशा हैं। और भी दो एक निकट संबंधिनी हैं। पर वे भी सब लगभग एक ही सी हैं।' 'गुणसुंदरी अपूर्व रूप-राशि की स्वामिनी थी अवश्य। पर उसने अपने इस यौवन-वन को यों ही छोड़ दिया था।' इत्यादि। 'किंतु', 'परंतु', 'पर', 'और' के पूर्व पूर्ण-विराम प्रायः अशुद्ध ही होते हैं। कहीं कहीं पूर्ण विराम के बचाने के अभिप्राय से 'और' की स्थापना दिखाई पड़ती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विशेषताओं एवं प्रयोगों से युक्त 'हृदयेश' की अपनी एक शैली है। आलंकारिक तथा काव्यात्मक भाषा और अभिव्यंजना का इतना व्यापक प्रयोग किसी ने नहीं किया। सर्वत्र एक ही भाषा दिखाई पड़ती है। यह दूसरी बात है कि विषय एवं परिस्थिति के कारण कुछ न्यूनाधिक्य हो गया हो। जहाँ लेखक ने प्राकृतिक विभूति तथा सौंदर्य का चित्रण किया है अथवा प्राकृतिक और मानव-व्यापारों का एकत्व व्यंजित किया है, वहाँ की भाषा संस्कृत तत्समता से सर्वथा आपूर्ण मिलती है—वाक्यों में विस्तार, भावाभिव्यंजना काव्यात्मक, विषय-कथन में आंतरिक अनुराग और उल्लास दिखाई पड़ता है। इतिवृत्त उपस्थित करने में भावुकता का पूर्ण योग रहने पर भी भाषा अपेक्षाकृत कुछ सरल हो गई है भावावेश के कारण कथन में बल और एक साँस में अधिक कहने की प्रवृत्ति मिलती है। कथोपकथनों में भाषा अपेक्षाकृत सरल और कुछ व्यावहारिक प्रयुक्त हुई है, परंतु वाक्यों में विस्तार उसी प्रकार का दिखाई पड़ता है।

निम्नलिखित दो उद्धरणों में 'हृदयेश' जी के भावात्मक एवं इतिवृत्तात्मक वाग्विधान का प्रतिनिधि स्वरूप उपस्थित किया जाता है। एक में वृत्त-कथन की सरलता होने पर भी संस्कृत-बहुल पदावली का ही आधिक्य है तो दूसरे में शुद्ध अलंकार एवं भाव प्रधान अभिव्यंजना।

"प्रणय अपरिमेय है।

"प्रणय का अनंत वैभव है। अंबरचुंबि-राजप्रासाद के अभ्यंतर में, अनंत-रत्नमाला से आलोकित विलासकक्ष में, प्रस्फुटित पद्मपुंज के पराग से आमोदित आराम में, कुसुम-कलेवर कामिनी की कंठ-लहरी से मुखरित प्रकोष्ठ में, मूर्तिमती रागिनी के स्निग्ध सौंदर्य से रंजित रंगभूमि में, शृंगारमयी कविता-किशोरी के मधुर पदलालित्य से रसित साहित्य-सदन में प्रेम, अपनी विस्तृत वभूति से

विभूषित होकर अपने अनिंद्य यौवन के अपूर्व प्रकाश में, अपने सौंदर्य की दिव्य ज्योति के मध्य में, अनंत आनंद का प्रवर्तक होकर, भगवान् की आनंद-मूर्ति का साकार परिचय देता है।

"प्रणय का असीम विस्तार है। मराल-मंडिता-मंदाकिनी में, कलहंस-कूजिता कालिंदी में, पद्मरागमयी वाणी में, सुमन-सज्जिता कुसुम-शोभिता मालती में, कांचनमयी कैलाश-कंदरा में, नक्षत्र-खचिता यामिनी में, सुधामयी शरच्चंद्रिका में, प्रेम सर्वत्र, सर्वदा, समान भाव से विचरण करता है।"

'योगिनी' ( नंदन-निकुंज )

"अब गाड़ी आने ही चाहती है; केवल पाँच मिनट की देर है। अभी यमदूत की भाँति, मुख से अग्नि निकालती हुई, घोर कोलाहल करती हुई, पृथ्वी को कंपायमान करती हुई रेलगाड़ी अपनी भीमकाय मूर्ति से कोमल हृदयों को भीत करती हुई [illegible]

"स्टेशन अब क[illegible] रियाँ भी अपने-अपने विचलित वस्त्रों को उ[illegible] ी समय चंद्रकला के गले का सुवर्णमंडित [illegible] का प्रकाश प्रसारित करता हुआ हिल गय[illegible] त श्रृंगार की रक्षा करने के लिये चंद्र[illegible] ने अपनी कंठमाला का परम-पावन रुद्रा[illegible] प्रसाद-रूप में पहना दिया है।

"इस समय ज[illegible] ाँति, कभी इधर कभी उधर घूमता था। [illegible] स्थान पर माधवी एवं मालती की भाँ[illegible] ोनों चंद्रवदन शरत् के शुभ्र पयोधर में [illegible] ा किसी उत्कंठित प्रेमी के लिये उस सम[illegible]

[illegible] ले' ( नंदन-निकुंज )।

पृष्ठ सं० 157 से 165

आमने सामने के दो पृष्ठ एक शीट पर आ जायें तो अच्छा होगा।

श्रीवृंदावनलाल जी हिंदी के प्रतिष्ठित उपन्यास लेखक हैं। आपके प्रायः आधे दर्जन उपन्यास अभी तक प्रकाशित हो चुके हैं—'लगन', '[illegible]म की भेंट', 'गढ़कुंडार', 'कुंडलीचक्र', 'विराटा की पद्मिनी' और 'झाँसी की रानी'। इनके अतिरिक्त इधर और भी अनेक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। इन उपन्यासों के कथानक की व्यवस्था, चरित्रांकन का

२० श्री वृंदावन लाल जी

तुम जानती ही हो—वह बड़ी कर्कशा हैं। और भी दो एक निकट संबंधिनी हैं। पर वे भी सब लगभग एक ही सी हैं।' 'गुणसुंदरी अपूर्व रूप-राशि की स्वामिनी थी अवश्य। पर उसने अपने इस यौवन-वन को यों ही छोड़ दिया था।' इत्यादि। 'किंतु', 'परंतु', 'पर', 'और' के पूर्व पूर्ण-विराम प्रायः अशुद्ध ही होते हैं। कहीं कहीं पूर्ण विराम के बचाने के अभिप्राय से 'और' की स्थापना दिखाई पड़ती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विशेषताओं एवं प्रयोगों से युक्त 'हृदयेश' की अपनी एक शैली है। आलंकारिक तथा काव्यात्मक भाषा और
प्रयोग किसी ने नहीं किया। सर्वत्र
यह दूसरी बात है कि विषय एवं
प ... क्य हो गया हो। जहाँ लेखक ने
प्र ... का चित्रण किया है अथवा प्राकृतिक
व्यंजित किया है, वहाँ की भाषा
स ... मिलती है—वाक्यों में विस्तार,
भ ... -कथन में आंतरिक अनुराग और
उ ... उपस्थित करने में भावुकता का पूर्ण
यो ... कुछ सरल हो गई है भावावेश
के ... साँस में अधिक कहने की प्रवृत्ति
मि ... ा अपेक्षाकृत सरल और कुछ
व्य ... वाक्यों में विस्तार उसी प्रकार का
दि

निम्नलिखित दो उद्धरणों में 'हृदयेश' जी के भावात्मक एवं इतिवृत्तात्मक वाग्विधान का प्रतिनिधि स्वरूप उपस्थित किया जाता है। एक में वृत्त-कथन की सरलता होने पर भी संस्कृत-बहुल पदावली का ही आधिक्य है तो दूसरे में शुद्ध अलंकार एवं भाव प्रधान अभिव्यंजना।

"प्रणय अपरिमेय है।

"प्रणय का अनंत वैभव है। अंबरचुंबि-राजप्रासाद के अभ्यंतर में, अनंत-रत्नमाला से आलोकित विलासकक्ष में, प्रस्फुटित पद्मपुंज के पराग से आमोदित आराम में, कुसुम-कलेवर कामिनी की कंठ-लहरी से मुखरित प्रकोष्ठ में, मूर्तिमती रागिनी के स्निग्ध सौंदर्य से रंजित रंगभूमि में, शृंगारमयी कविता-किशोरी के मधुर पदलालित्य से रसित साहित्य-सदन में प्रेम, अपनी विस्तृत वभूति से

विभूषित होकर अपने अनिंद्य यौवन के अपूर्व प्रकाश में, अपने सौंदर्य की दिव्य ज्योति के मध्य में, अनंत आनंद का प्रवर्तक होकर, भगवान् की आनंद-मूर्ति का साकार परिचय देता है।

"प्रणय का असीम विस्तार है। मराल-मंडिता-मंदाकिनी में, कलहंस-कूजिता कालिंदी में, पद्मरागमयी वाणी में, सुमन-सज्जिता कुसुम-शोभिता मालती में, कांचनमयी कैलाश-कंदरा में, नक्षत्र-खचिता यामिनी में, सुधामयी शरच्चंद्रिका में, प्रेम सर्वत्र, सर्वदा, समान भाव से विचरण करता है।"

- 'योगिनी' ( नंदन-निकुंज )

"अब गाड़ी आने ही चाहती है; केवल पाँच मिनट की देर है। अभी यमदूत की भाँति, मुख से अग्नि निकालती हुई, घोर कोलाहल करती हुई, पृथ्वी को कंपायमान करती हुई रेलगाड़ी अपनी भीमकाय मूर्ति से कोमल हृदयों को भीत करती हुई प्लेटफार्म पर आ खड़ी होगी।

"स्टेशन अब कोलाहल-पूर्ण हो उठा। दोनों सुंदरियाँ भी अपने-अपने विचलित वस्त्रों को उचित रीति से पहनने लगीं। उसी समय चंद्रकला के गले का सुवर्णमंडित पवित्र रुद्राक्ष अपनी पावन प्रभा का प्रकाश प्रसारित करता हुआ हिल गया। मैंने सोचा क्या पवित्र शैवी रुद्राक्ष शृंगार की रक्षा करने के लिये चंद्रकला के निकट रहता है? क्या नीलकंठ ने अपनी कंठमाला का परम-पावन रुद्राक्ष आज मूर्तिमती सुंदरता के कंठ में, प्रसाद-रूप में पहना दिया है।

"इस समय जन-समूह, सागर की तरंगमाला की भाँति, कभी इधर कभी उधर घूमता था। दोनों सुंदरियाँ भी अपने अपने-अपने स्थान पर माधवी एवं मालती की भाँति, दीवार के सहारे खड़ी हो गईं। दोनों चंद्रवदन शरत् के शुभ्र पयोधर में ढके हुये थे; किंतु उनका स्निग्ध प्रकाश किसी उत्कंठित प्रेमी के लिये उस समय अत्यंत सुखद था।"

—'प्रेम-पुष्पांजलि' ( नंदन-निकुंज )।

श्रीवृंदावनलाल जी हिंदी के प्रतिष्ठित उपन्यास लेखक हैं। आपके प्रायः आधे दर्जन उपन्यास अभी तक प्रकाशित हो चुके हैं—'लगन', 'प्रेम की भेंट', 'गढ़कुंडार', 'कुंडलीचक्र', 'विराटा की पद्मिनी' और 'झाँसी की रानी'। इनके अतिरिक्त इधर और भी अनेक कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। इन उपन्यासों के कथानक की व्यवस्था, चरित्रांकन का

श्री वृंदावन लाल जी

सौष्ठव और कथोपकथनों की कुशलता मनोहर, प्रकृत एवं महत्त्वपूर्ण है। उपन्यास-रचना संबंधी विभिन्न तत्त्वों के विचार से लेखक में प्रतिभा और भावुकता का सुंदर योग दिखाई पड़ता है।

भाव-पक्ष की इतनी और इससे भी अधिक प्रशंसा होने पर भी भाषा की अवस्था दुर्बल तथा विचारणीय है। यों तो उसमें एक अपनापन अवश्य है। मुंशी प्रेमचंद के उपरांत वृंदावनलाल जी की भाषा उपन्यास-रचना के सर्वथा उपयुक्त होती है;—सर्वत्र सरल, व्यावहारिक और प्रवाहयुक्त। कथोपकथनों में तो ये विशेषताएँ और अधिक मात्रा में दिखाई पड़ती हैं। संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का योग बड़े स्वाभाविक ढंग से हुआ है, साथ ही फारसी-अरबी के अत्यंत चलते शब्दों का बहुत ही मिला-जुला रूप मिलता है। छोटे-छोटे वाक्यों में निरर्थक विस्तार का अभाव बड़ा भला ज्ञात होता है। यों तो लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग कहीं-कहीं हुआ है, किंतु मुंशी प्रेमचंद की भाँति नहीं। छोटे-छोटे वाक्यों के साथ प्रवाह बनाए रखना कठिन होता है, परंतु वृंदावनलाल जी की यह विशेषता उल्लेखनीय है। यत्र-तत्र उस प्रवाह में जो अवरोध और रूक्षता दिखाई भी पड़ती है वह विषय के कारण है। किसी घटना अथवा परिस्थिति का इतिवृत्त उपस्थित करने में भी एक प्रवाह-सा प्राप्त होता है। वाक्य की रचना और विषय अपने को पृथक् न रखकर आगे-पीछे के वाक्यों से संबद्ध रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक वाक्य भाव तथा कथांश को आगे बढ़ाता चलत है।

मुहावरों की भाँति अलंकारों का प्रयोग भी प्रायः कम ही हुआ है। यों तो भाव-द्योतन के लिए जहाँ आवश्यकता पड़ी है लेखक ने उनका उपयोग किया है परंतु आलंकारिक अभिव्यंजना का आधिक्य न होने पाए इसपर नियंत्रण भी रखा गया है। भाषा के व्यावहारिक रूप और कथन के सीधे-चलते ढंग में यही ठीक भी होता है। मुंशी प्रेमचंद की भाँति इनके अलंकारों में भी सर्वत्र स्थूलता और व्यावहारिकता प्राप्त होती है। उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ नित्य की परिचित रहती हैं; उनमें भावुकता होने पर भी क्लिष्ट कल्पना की आवश्यकता नहीं पड़ती। उदाहरण और दृष्टांत व्यापक और प्रचलित ही प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार भाषा और अभिव्यंजना-पद्धति में सर्वत्र सामंजस्य दिखाई पड़ता है। रूपकों का सर्वथा अभाव रखा गया है; यों तो

सादृश्यमूलक अन्य अलंकारों का प्रयोग अधिक प्राप्त होता है। जैसे:— 'उज्ज्वल उन्नत ललाट पर पसीने की बूंदें अनबिंधे मोतियों की तरह चमक रही थीं', 'वह मंदगति की मंदाकिनी की तरह पौर में आई', 'सरस्वती हँस दी। जैसे दो प्रवाल पंक्तियों के बीचोबीच मुक्तामाला चमक गई हो', 'घूँघटवाली सुंदरी की तरह पहाड़ों के बीच में वह विराजमान है', 'हिरणी के बच्चे सरीखी बड़ी बड़ी आँखें, प्रभातकालीन गुलाब जैसा मुख', 'जैसे प्रभात कलिकाओं पर हिमकणों की रोमावली और सीताफलों पर प्रकृति की छिटकी हुई सफेद बुकनी की रेखाएँ उनके आंतरिक अक्षुण्ण स्वास्थ्य का लक्षण है; वैसे ही पूना का ज्योतिर्मय मुख था', 'तारे खूब छिटके हुए थे। ऐसे साफ सुथरे जैसे बरफ से धोए गए हों', 'स्वर में कोई क्षोभ न था, परंतु कोमल होने पर भी उसमें संगीत की मंजुलता न थी—जैसे कोयल ने दूर, किसी सघन वन में, वायु के झोकों की गति के प्रतिकूल, कूक लगाई हो'। 'कड़ी लड़ाई के बाद सिपाही जब अवकाश पाकर आनंद मनाते हैं, तब उनका वेग पाठशाला से छूटे हुए छोटे-छोटे विद्यार्थियों के हुल्लड़ से कहीं अधिक बढ़ जाता है", "उसका शब्द ऐसा मालूम पड़ता था मानो चाँदी के थाल में मेह की बूँदे पड़ गई हों", "चेहरा गुलाब की तरह खिला हुआ था।", "उसका थोड़ा-सा मुख-भर दिखलाई पड़ता था मानो झरोखे में से संध्याकालीन सूर्य की किरणें झाँक रही हों"। कहीं-कहीं अप्रस्तुत का भावात्मक योग भी मिलता है। उसमें लेखक की भावुकता का दर्शन हो जाता है। जैसे—"नाला मचलता हुआ बहता चला जा रहा था। दोनों ओर सुनसान अनंत एकांतता का राज्य था। ऐसा लगता था, मानो भय की गोद में सौंदर्य खेल रहा हो", "शक्ति भैरव पर पहुँचकर ज़रा ठहरा था कि तारा आई, मानो पवन पर बैठकर कमल की सुगंधि आई हो", "ललित कुछ क्षण ठहरकर उसकी ओर देखता रहा। कमल की कली बिना खिले ही मुरझा चली। प्रातःकाल होते ही बाल-रवि को कोहरे ने ग्रस्त कर लिया स्वर की झंकार के साथ ही वीणा का तार टूट गया। सुनहरी हरियाली पर कठोर लू! यज्ञ-मंडप पर वज्रपात! हास-विलास के स्थान पर पीड़ा का निश्वास। पवित्रता की वेदी पर प्रकाश-रश्मि का बलिदान।"

पहले वृंदावनलाल जी में प्रांतिक शब्दों और पूर्वी प्रयोगों की

अत्यधिकता थी। क्रियाओं, संज्ञाओं और सर्वनामों में इतनी प्रादेशिकता थी कि भद्दा मालूम पड़ता था। 'लगन' में इसके प्रमाण अधिकता से प्राप्त होते हैं। वहाँ 'एकार' एवं 'औकार' की बहुलता प्रायः दिखाई पड़ती है, जैसे—'लैन दैन', 'इनै-गिनै', 'मिलैंगी', 'पौंछकर', 'करैंगे', 'रक्खैंगे', 'भेजैंगे', 'दौनों', 'रीझौंगी', 'तोड़ौंगी', 'बातैं', 'आंखैं', 'भौंहैं', 'बूदैं', 'में' ( मैं ) इत्यादि। इसके अतिरिक्त पंडिताऊपन भी मिलता है। 'तौ', 'हौ', 'मानो की', 'जाएगा', 'आवेगा', 'दिखलाएगा', 'पायगा', 'खायगा' इत्यादि रूप इनके प्रमाण हैं। ये सब आरंभिक प्रयोग 'कुंडलीचक्र' की रचना तक आकर प्रायः रुक गए। यह अच्छा हुआ, अन्यथा भाषा-सौष्ठव और परिष्कार न हो पाता। यों तो क्रियाओं के अव्यवस्थित प्रयोग इधर तक की रचनाओं में प्रायः मिलते हैं परंतु विस्तार के बीच न्यून ज्ञात होते हैं। जैसे—"पिता की उनपर आरंभ से ही कोई विशेष निगरानी नहीं रही थी", "उसको सदा से अधिकांश औपन्यासिक घटनाओं पर अविश्वास रहा था", "अधिक फूल चाहने पड़ेंगे", "धीर के पास अब कोई साधन बाकी नहीं रहा है", "लोचनसिंह बहुत समय तक कभी चुप नहीं रहा था", "वहीं होकर दलीपनगर की सेना निकली", "अलीमर्दन को बुलवाया, जो पालर के मंदिर का नाश करने के लिये कटिबद्ध रहा है", "इस गढ़ी में होकर युद्ध करना बिलकुल व्यर्थ होगा।" कहीं-कहीं ये स्वरूप विभक्तियों में आ गए हैं, जैसे 'से' के स्थान पर 'में' अथवा 'होकर' का प्रयोग—"कैदी को भोजन भी यहीं होकर दिया जाता है", "नीचेवाली खिड़की में होकर······है", "कई पहाड़ियों के बीच में होकर कुंडार सगरौल की ओर झाँकता-सा है।"

विभक्तियों के प्रयोग अव्यवस्थित ढंग पर मिलते हैं। कहीं-कहीं इनकी छूट खटकती है और अपनी ओर से जोड़कर पढ़ना पड़ता है। ऐसे स्थलों पर भाव-ग्रहण में आघात सा लगता है। साथ ही कहीं-कहीं उनकी अधिकता के कारण भाषा शिथिल पड़ गई है। निरंतर प्रत्येक संज्ञा और क्रिया के उपरांत विभक्ति के आ जाने से अवरोध सा पड़ता है। अनेक ऐसी विभक्तियों को पारकर जब पाठक अंतिम विभक्ति के पास आता है तो पूर्व का संबंध विस्मृत हो जाता है। उदाहरण के रूप में ये प्रमाण विचारणीय है; जैसे—"मऊ पहुँचने पर अजित ने भुजबल से ठहरने के स्थान के विषय में पूछा",

"देवरा से पाव मील पूर्व पलोथर की पहाड़ी की जड़ में बहनेवाले नाले के दोनों किनारों के पेड़ों की झुरमुटों की नीलिमा पर रवि-रश्मियाँ नाच-सी रही थीं", "सुनहली किरणों के पीछे डोरों की बुनी हुई चादर में होकर पलोथर की पहाड़ी के दक्षिणी भाग के पीछे से वह झाँक सी रही थी।" इस प्रकार विभक्तियों की अधिकता सर्वत्र प्रयुक्त हुई है; उसमें भी द्वितीया और सप्तमी की विभक्तियों का निरर्थक उपयोग अत्यंत अरुचिकर प्रतीत होता है इनकी अव्यवस्थित स्थापना के कारण भाषा और व्यंजना दोनों अशक्त हो गई हैं। इसी दुर्बलता के कारण प्रवाह भी बिगड़ा दिखाई देता है।

वृंदावनलाल जी की आरंभिक रचनाओं की भाषा-शैली और अभिव्यंजना-पद्धति अपेक्षाकृत अधिक सुंदर थी। उसमें हिंदीपन के साथ शुद्धता भी थी वाक्य-योजना का क्रम एवं वाक्य के विभिन्न अवयवों की विहित स्थलों पर संस्थापना में एक अपनापन दिखाई पड़ता था। यों तो प्रादेशिकता की अधिकता के साथ, विरामादि चिह्नों की अव्यवस्था और अंगरेजीपन के मूल रूप तो उस समय भी झलकते थे; परंतु इन दुर्बलताओं के रहते भी वह शैली अधिक संयत तथा परिष्कृत थी :—

"बरौल के घाट पर एक व्यक्ति बेतवा की अखंड जलराशि में से निकला। तूबे किनारे पर एक पेड़ की जड़ में रख दिए और बिजली के चकाचौंध उजयाले लाठी के सहारे बादल चौधरी के मकान के पास एक खुली खिड़की के नीचे जा पहुँचा। कुछ क्षण खड़ा रहा। आज कुत्ते नहीं भोंक रहे थे। आपस में भी नहीं लड़ रहे थे। वह खाँसा। बिजली चमका। और फिर चमकी। चमकती रही। मार्ग प्रकाश से भर गया। उस व्यक्ति की पुष्ट देह पर पानी के बहते हुए कण मोतियों की लड़ियों की तरह दमक गए। किसी ने खिड़की में से सिर निकाला, उस व्यक्ति को जान पड़ा मानो हवा के झकोरे ने पत्तियों में छिपाए हुये गुलाब के फूल को एक क्षण के लिये झरोखा देकर फिर लुका लिया हो। यह देवीसिंह था और वह रामा थी। बिजली के प्रकाश में एक ने दूसरे को पहचान लिया।

—'लगन' ( प्रथमावृत्ति ) पृ० ७६—७

'कुंडलीचक्र' तक आते-आते इनकी भाषा-शैली में सर्वांगीण अँगरेजीपन आ गया। वाक्य-विधान विरामादि चिह्नों की स्थापना,

अभिव्यंजना और संवाद-प्रणाली में अँगरेजी का छाया-कलुषित रूप प्राप्त होने लगा। कहीं-कहीं अँगरेजी के समानार्थी हिंदी-शब्द और पदावली मिलने लगी। साथ ही अँगरेजी मुहावरों के अनुवाद भी प्रयुक्त होने लगे और अँगरेजी ढंग पर लिखे हुए वाक्य तो अनेक हैं—और सर्वत्र हैं; जैसे –"शास्त्रों के वचन, चाहे भारतीय हों चाहे योरोपीय, उसके लिये बहुत *प्रभाव न रखते थे*।" "भुजबल उन लोगों में से न था, जो *घास को थोड़ी देर भी अपने पैरों तले उगने देते हों*।" "विषय को *रंग देने की गरज* से भुजबल ने कहा", "आप को संगीत शास्त्र पर बड़ा *काबू है*", "इस तरह का आदमी संसार में न रहने के योग्य है", *योग्यतम के अवशेष के सिद्धांत* के अनुसार मनुष्यों का वर्गीकरण स्वाभाविक है", "*पूर्व इसके कि*", "महल नगर के दक्षिण ओर फाटा और गोलावीर की पहाड़ियों को *जोड़ता है*", "आपका छावनी में *निवास देखना* बहुत पसंद करूँगा", "उठने की *इच्छा न रखते* हुए भी दोनों वहाँ से चले गए", "बहुत समय *व्यय* नहीं हो सकता", "इस समय बलबन के साथ हमारा संबंध संधि के *आधार पर* है", "अग्निदत्त और तारा ने उसको बहुत *आदर के साथ लिया*", "इसलिये वह राजकुमार का साथ होने के *अवसर बचाता था*", "मालवा स्वतंत्रता के *मार्ग पर दूर जा चुका था*।"

इन वाक्यांशों में तो अगरेजीपन अधिक है ही, साथ ही संपूर्ण वाक्य-योजना भी अँगरेजी के अनुसार मिलती है। अवश्य ही उन वाक्यांशों में थोड़ा हेर-फेर करने से हिंदीपन आ सकता है। ऐसे अँगरेजी वाक्यों में विरामादि चिह्नों का पर्याप्त योग न लेने से कहीं-कहीं वाक्य उलझे हुए दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण रूप में ऐसे वाक्य रखे जा सकते हैं—"घास का मैदान दाहिनी ओर पश्चिम से पूर्व तक फाटा पहाड़ी के नीचे तक वायु की लहरों का क्रीड़ास्थल बन रहा था", "परंतु हमारे लिये भी काफी रुपया कर्ज दिला देने के बदले में निकल आएगा", "निर्बल आदमी को निर्बल कहकर उसका नाश उसे सावधान करके करना यह मैं न्यायसंगत मानता हूँ", "कई पल्टनें नए गाँव में बहुत थोड़े दिनों के अंतर में आ गईं" अंतिम वाक्य को या तो इस रूप में लिखना चाहिए—नए गाँव में कई पल्टनें बहुत थोड़े ही दिनों के अंतर में आ गईं।" अथवा प्रथम और द्वितीय

'में' के उपरांत अर्धविराम चिह्न देना चाहिए। कथोपकथन में भी प्रायः अँगरेजी ढंग ही प्रयुक्त हुआ है; जैसे—"बुंदेला का कर्तव्य ही क्या है, शर्मा जी ?" देवीसिंह ने लापरवाही के साथ कहा—"परंतु अब किस तरह उनके प्राण बचेंगे, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है।" "दवा-दारू हो रही है। देखिए, आशा तो बहुत कम है।" आह भरकर जनार्दन बोला—"ऐसी दशा में महाराज को इतनी दूर नहीं आने देना चाहिए था।" "तुम्हारा रुपया !" शिवलाल ने आश्चर्य के साथ कहा—"वह तो उस राहगीर का था, बुलाकर दे दो।" "वह तो दूर निकल गया।" भुजबल बोला—"सरकारी सड़क पर पड़ी हुई संपत्ति पर किसी का इजारा नहीं होता। जिसको मिल जाय, उसी की होती है।" इस प्रकार के कथनोपकथन में कर्तापद संबंधी वाक्यांशों के बीच में आने के कारण प्रवाहयुक्त कथन में निरर्थक अवरोध पड़ता है।

विरामादिक चिह्नों की उचित स्थापना से यथास्थान वाक्यांशों में उपयुक्त बल उत्पन्न होता है एवं पूर्वापर कथन में सुसंबद्धता आती है। वृंदावनलाल जी में इनकी बड़ी अव्यवस्था दिखाई पड़ती है। इसके कारण स्थान-स्थान पर प्रवाह उखड़ा सा ज्ञात होता है और साथ ही भाव-बोधन में अवरोध उत्पन्न होता है। कहीं-कहीं तो बिना कर्त्ता और क्रिया ही के विराम का प्रयोग किया गया है। उद्धृत अंशों में प्रमाणस्वरूप लेखक की प्रवृत्ति स्पष्ट प्रकट हो जायगी। वस्तुतः इनके विषय में लेखक के कोई निश्चित सिद्धांत नहीं ज्ञात होते। एक ही समान स्थल में विभिन्न प्रणाली का अनुसरण दिखाइ पड़ता है।

"मेरी बहन रत्नकुमारी है। हम लोग उसको रतन कहकर बुलाया करते हैं। हिंदी पढ़ी है। थोड़ी अगरेजी भी जानती है।"

—कुंडलीचक्र, पृ० ५

इसके अतिरिक्त कहीं सर्वनामों का निरर्थक प्रयोग और कहीं उनका अभाव तथा कहीं पूरक क्रिया 'था' अथवा 'है' की अनुपस्थिति और कहीं उनकी अधिकता भाषा को शिथिल बना देती है। इन विषयों में किसी लेखक को प्रमाद एवं असावधानी नहीं करनी चाहिए।

लिंगों के प्रयोग में भी अनिश्चित रूप मिलते हैं। कहीं 'शिकार', 'सामर्थ्य', 'कलह', का पुल्लिंग उपयोग मिलता है और कहीं स्त्रीलिंग। कहीं 'अनेक' और कहीं 'अनेकों' का उपयोग भी खटकता है। यत्र-तत्र

शब्दों का अशुद्ध तथा अनुचित अर्थ में प्रयोग प्राप्त होता है; जैसे—'आयु', 'आक्षेप' इत्यादि; 'तुम आयु में कचनार से बड़ी हो।' इसके अतिरिक्त कर्त्ता की विभक्ति 'ने' की स्थापना अशुद्ध अथवा अव्याव-हारिक रूप में मिलती है :—

'मैंने अभी उनसे नहीं कह पाया है', 'रानी ने नहीं देख पाया', 'सहजेंद्र से दिवाकर ने कभी झूठ नहीं बोला था', 'राजा को उसने प्रणाम न कर पाया था कि पुण्यपाल बोला।', 'न देवीसिंह का प्राण ही किसी ने उस समय ले पाया', 'इस बात को किसी ने न सुन पाया।' 'तूने क्यों यह झूठ बोला ?', 'पर इसने समझ नहीं पाया', 'यह नहीं मालूम कि उसने कितने दिनों में क्या क्या सीख पाया', 'आप लोगों ने सो पाया या नहीं ?', 'मानसिंह ने नहीं देख पाया।'

कथन में बल-प्रयोग के विचार से वाक्यों के विहित विधान में परिवर्तन करने की जो प्रवृत्ति इधर कुछ समय से लेखक अपनाने लगे हैं, उसका उपयोग वृंदावन लाल जी ने भी किया है। दूसरों की भाँति इन्होंने भी कहीं-कहीं उचित और अधिकांश स्थलों पर अनावश्यक उलट-फेर किया है। "न्यायाधीश शूली की आज्ञा देता है; परंतु शूली पर चढ़ाते हैं अपराधी को चांडाल।" इस वाक्य में उलट फेर उसी समय उचित होता जब कि वाक्य के पूर्वांश में भी उलट-फेर रहता। वैसी अवस्था में अपरांश पूर्व के जोड़-तोड़ में भला लगता। इस वाक्य को यों होना चाहिए—शूली की आज्ञा देता है न्यायाधीश, परंतु अपराधी को शूली पर चढ़ाते हैं चांडाल ही।"

इन दुर्बलताओं और अशुद्धियों के रहते हुए भी इनकी भाषा में अपनापन है। इतिवृत्तात्मक कथन की प्रणाली और लेखक की साधारण प्रवृत्तियों का उल्लेख आरंभ में हो चुका है। उसके अतिरिक्त वर्णन-शैली में अंतर इतना ही दिखाई पड़ता है कि भाषा कुछ तत्समता की ओर अधिक झुकती प्रतीत होती है और वर्ण्य विषय के चित्रण में अनुराग व्यंजित होता है। ऐसे स्थलों पर अलंकारों का प्रयाग भी उचित मात्रा में हुआ है।

इन उद्धरणों में लेखक की कुछ विशेषताओं के दर्शन किए जा सकते हैं :—

दुलैया जू को देखते ही मन के भीतर उजाले की चकाचौंध-सी लग जाती है। कचनार को देखने को जी तो चाहता है, परंतु देखते ही सहम-

जैनेंद्रकुमार

सा जाता है। दुलैया जू का स्वर सारंगी सा मीठा है, कचनार का कंठ मीठा होते हुए भी चिनौती-सा देता है। दुलैया जू कमल हैं, कचनार कँटीला गुलाब। जिस समय दुलैया जू को हल्दी लगाई गई मुखड़ा सूरजमुखी-सा लगता था। उनकी आँखों में मद है, कचनार की आँख ओले-सी सफेद और ठंढी। उनकी मुस्कान में ओंठों पर चाँदनी-सी खिल जाती है, कचनार की मुस्कान में ओठ व्यंग सा करते हैं। दुलैया जू की एक गीत, एक मरोड़ न जाने कितनी गुदगुदी पैदा कर देती है, कचनार जब चलती है ऐसा जान पड़ता है कि किसी मठ की योगिन है। बाल दोनों के बिलकुल काले और रेशम जैसे चिकने हैं। दोनों से कनक की किरणें-सी फूटती हैं। दोनों के शरीर में संमोहन, जादू भरा-सा है। दोनों बहुत सलोनी हैं। दुलैया जू को देखते और बात करते जी नहीं अघाता। अत्यंत सलोनी हैं। घूँघट उघड़ते ही ऐसा लगता है जैसे केसर बिखेर दी हो। कचनार को देखने पर ऐसा जान पड़ता है जैसे चौक पूर दिया हो। दुलैया जू वशीकरण मंत्र हैं और कचनार टोना उतारनेवाला मंत्र।

—'कचनार' ( प्रथम संस्करण, पृ० १४–५ )

नृत्य वास्तव में एक दृश्य काव्य है। जैसे सरस कविता के ललित कोमल पद मन के तारों को झंकार दे देते हैं वैसे ही नृत्य का दृश्य काव्य जो देहलता की लहरों में होकर प्रकट होता है मन को झंकार ही नहीं, टकारें देता है। कत्थक नृत्य से भी बढ़कर शांतिनिकेतन के नृत्य का प्रकार है। उस नृत्य की स्वाभाविकता, उसका प्रशांत गौरव, मंजुल सौष्ठव, उसकी सहज मृदुल सरलता घनीभूत भावुकता रस से ओतप्रोत भाव-पूर्णता और मंगलपूर्ण सुंदरता निजी उसकी है। शब्द, संगीत, संकेत और ताल मानो एक इकाई में बुन दिए जाते हैं, उन सब का एकमात्र और अंतिम फल विपुल मनोहरता, रहस्यमयी आध्यात्मिकता और जीवन का एक विशाल वरदान हो जाता है।

—अचल मेरा कोई ( प्रथम संस्करण, पृ० ९१ )

२१ श्रीजैनेंद्रकुमार

जैनेंद्र जी की गणना विचार-प्रधान लेखकों में की जानी चाहिए। उनके विचार-गुंफन में तर्क का आश्रय अधिक दिखाई पड़ता है; परंतु उसमें सर्वथा तार्किक रूक्षता ही हो ऐसी बात भी नहीं है। तर्क जहाँ अनुभूति-कथन एवं भावुकता में योग देने के लिए आता है वहाँ एक प्रकार की सरसता भी प्राप्त होती है। आप अपने विषय का प्रतिपादन तार्किक शैली से करते हैं। इस पद्धति में ओज, प्रवाह और

चमत्कार रहता है; परंतु आत्म-कथन की प्रवृत्ति इतनी अधिक है कि विषय की एकरसता में बड़ा व्याघात उपस्थित होता है। यह प्रवृत्ति प्रतिपादन और परिचयात्मक स्थलों में विशेष रूप से पाई जाती है। इसके कारण पाठक को निरर्थक भार रूप में लेखक की व्याख्या सुननी ही पड़ती है। एक बात कहकर तुरंत उसका विस्तार करने लगना इस बात को सूचित करता है कि पाठक की विचार-शक्ति पर लेखक को अविश्वास है। दूसरी बात यह है कि जब एक प्रधान विषय के विस्तार के साथ-साथ पाठक का ध्यान बँधा चला आ रहा हो तो बीच में एक आनुषंगिक विषय के स्पष्टीकरण में विस्तार करने से प्रधान विषय की ओर से ध्यान टूट जाता है और अनुभूति के प्रवाह में अवरोध उपस्थित हो जाता है जो सर्वथा अवांछनीय है :—

"मनुष्य भी विचित्र प्राणी है। वह क्या विचित्र है, असल में जो उसके भीतर छोटा सा मन दबकर बैठा हुआ है, सारी विचित्रता तो उस मन की है। वह मन न देश की बाधा मानता है, न काल की इस घड़ी यहाँ बैठे हो, तो यह मन उड़कर कहाँ पहुँच गया है, ठिकाना नहीं। दस बरस, बीस बरस, पचास, सौ, लाख, करोड़ बरस पहले कहीं वह मन चला गया है; या वह मन लाखों बरस आगे पहुँच गया है—कुछ भी हिसाब नहीं। यह सारा सफर वह मन छन में कर लेता है। इसी मन के बूते पर तो कवि लोग कह देते हैं, व्यक्ति असीम है। साढ़े तीन हाथ का मानव व्यक्ति असीम भला क्या, इस अनंत योजनों के विस्तारवाले विश्व में नन्हीं बूँद सा भी तो नहीं है। पर उस नन्हीं बूँद के भीतर नन्हीं से भी जो कुछ नन्हीं चीज है, वही कमबख्त तो समीपता में बँधकर पल भर के लिये भी चैन से बैठती नहीं है।"

—'रामकथा' ( 'हंस', वर्ष ७, अंक १, पृ० ४६ )।

जैनेंद्र जी की भाषा में अत्यधिक अँगरेजीपन है। शब्दों के प्रयोगों और वाक्यों के विस्तार दोनों में वही बात है। कहीं-कहीं तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि रचना के प्रवाह में लिखते समय अँगरेजी शब्द और वाक्य रख दिए गए थे और पीछे उनके स्थान पर पर्यायवाची शब्द और पदावली बैठा दी गई। भाषा-संबंधी यह दुर्बलता आजकल प्रायः लेखकों में दिखाई पड़ती है परंतु किसी-किसी में इसका इतना आधिक्य हो जाता है कि भद्दा मालूम पड़ने लगता है। उदाहरण के रूप में ये उद्धरण पर्याप्त हैं :—

१—'किंतु उसके बारे में ज्यादा जानकारी *किसी के पास न थी*।'—'सुनीता' पृ० १७।

२—"मैं तो जिम्मेदार नागरिक *बनने में आ गया* हूँ।" 'सुनीता' पृ० २१।

३—"परीक्षण हमारे लिये नहीं है।"—'सुनीता' पृ० २१।

दूसरे प्रकार के उदाहरण के उद्धरण भी स्पष्ट और अधिकता से मिलते हैं।

१—"जीवन के संबंध में वह *खूब हिसाबी था*" ( Was so mathematical or calculative )—'सुनीता' पृ० २०।

२—"क्या अब भी वह जीवन के साथ *परीक्षण* ( Experiment ) करने में वैसा ही उदात्त है?"—'सुनीता' पृ० २१।

इसी प्रकार एक नहीं अगणित उद्धरण प्राप्त होंगे—'यह अभी निर्णय होने में नहीं आया।" "उसको ठीक कहने के लिये हमें अपने को इनकार करना होगा।" ( हंस वर्ष ७, अं० १, पृ० ३० ) इसी प्रकार के शब्द, वाक्य, और पदावली सर्वत्र प्राप्त होती हैं। अँगरेजी पढ़े-लिखे पाठकों को संभव है, संस्कारजन्य होने के कारण, यह भद्दापन न खटके, परंतु जो अँगरेजी से परिचित नहीं हैं उन्हें तो भावों की अनुभूति ही न हो सकेगी। ऐसी अवस्था में इसे दोष और भाषा की दुर्बलता ही माननी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे ही प्रयोग हैं जिन्हें संभव है कोई पंजाबी बताए और कोई दिल्लीपन कहे परंतु हैं वे सर्वथा अशुद्ध। इस प्रकार की नवीन-प्रियता अभिव्यंजना और भाषा की प्रगति में, केवल उच्छ्रंखलता ही उत्पन्न कर सकती है—सौंदर्य नहीं।

१—"उसे मूर्ख कह लेकर आदमी शायद स्वयं अपने को कुछ बुद्धिमान *लग आता* हो।"

२—"हम चाहे कितना ही भागें, हटें, छिपें, पर मौत के चंगुल से *बचना नहीं होगा*।"

३—"विराट सत्ता के प्रति समर्पित हो रहने से हम मुक्ति की ओर बढ़ते हैं।"

४—"धर्म के गीत गाता और अतीत के सपने *लेता* है।"

५—"पढ़कर भी कुछ अधिक *नहीं जाना* हूँ।"

६—"साहित्य शास्त्र तो बिलकुल नहीं पढ़ा हूँ।"
७—"साहित्य के कोई भी नियम मुझे हाथ नहीं लगे हैं।"
८ "उनसे आगे होकर भी सत्य है।" इत्यादि।

इसी ढंग की अनेक अन्य अव्यवस्थाएँ इनकी शैली में दिखाई पड़ती हैं जिनके कारण भाषा जटिल, शिथिल और भावव्यंजना में असमर्थ हो गई है। जितनी जटिलता इनकी रचना-पद्धति में मिलती है वह वस्तुतः वाक्यों में अनुचित गठन, शब्दों की असंबद्ध स्थापना, संबंध निर्देशक पदों के अभाव और साधारण प्रमाद के कारण है। कहीं सर्वनामों तथा "और" का निरर्थक अधिक प्रयोग मिलता है, कहीं इन्हीं के अभाव में भाव अस्पष्ट रह गए हैं। कहीं 'न', 'ही', 'हो' इत्यादि की अनुपस्थिति के कारण पढ़ते-पढ़ते रुक जाना पड़ता है। कहीं विशेष्य और विशेषण के उलट फेर से वास्तविक भावानुभूति में आघात लगता है। विरामादि चिह्न यथार्थ भाव का बोध कराने में सहायक होते हैं। इनकी अशुद्ध स्थापना से अभिव्यंजना नष्ट-सी हो जाती है। वर्तमान अधिकांश लेखकों की भाँति जैनेंद्र जी में भी इन चिह्नों का बड़ा ही अव्यवस्थित और संदेहास्पद प्रयोग मिलता है—"Knowing is becoming, असली जानना पाना है। और पाना तद्रूप, तन्मय हो जाना है।" "थियरी बस थियरी बनी रहती है। और जान पड़ता है न अणु की थियरी सत्य है और न कोई और थियरी अंतिम सत्य हो सकेगी। और सदा की भाँति··· ।" "मेरी उमर ज्यादा नहीं है। पढ़ा भी ज्यादा नहीं हूँ। साहित्य-शास्त्र तो बिलकुल नहीं पढ़ा हूँ। फिर भी लिखने तो लगा।" "उस समय उसे यह मालूम नहीं हो रहा था, कि वह हारी है। न हराश को अपने जीत का मान था", "लेकिन मौत का इन्हें बड़ा भय होता है। दूसरे की भी और अपनी भी मौत का।" इत्यादि। 'अस्तु', 'अतः' 'इसलिए' के स्थान पर 'सो' का पुराना पंडिताऊ प्रयोग भी त्याज्य है। 'हां' रामकथा कहना उनका काम हो गया है, 'सो बड़े सुंदर ढंग से वे उस कथा को कहेंगे।' 'सो मैं कमरे में से निकालकर बाहर आया।' 'सो मेरा मन और ही तमाशे की ओर चला गया।" इत्यादि। स्थान-स्थान पर विभक्तियों के भी निरर्थक और अप्रयुक्त प्रयोग दिखाई देते हैं—"वह भय में से उपजी है।" "श्रद्धा मौत को प्रेम भी कर सकती है।"

'वे स्वयं में सत्य नहीं है।' 'मैं अपने और राम के बीच में माध्यम अपनी श्रद्धा *का ही* पाऊँ।' इत्यादि। इसके अतिरिक्त 'कि' का प्रयोग निरर्थक स्थलों पर मिलता है—'अथवा *कि* प्रकृति में तन्मयता पाने के लिये......' 'मानो *कि* एक दूसरे को देखते रहने के अतिरिक्त...' मानो *कि* बस अब आगे किसी के लिये......' संयुक्त क्रियाओं के स्थान पर केवल एक ही क्रिया का प्रयोग खटकता है—'मैं निरुत्तर दीखूँगा' ( बन जाऊँगा अथवा दीख पड़ूँगा )। 'सुंदरता तो सामने से ही दीखती है।' ( दीख पड़ती है )। इत्यादि। बहुवचन विशेषणों और क्रियाओं के साथ एकवचन कर्ता कुछ विशिष्ट अवसरों को छोड़कर अन्य स्थानों पर दोषपूर्ण ही कहा जायगा—'शताधिक नर नारी वहाँ उपस्थित हैं।' 'आदि बात सोचने की है'।

इन त्रुटियों की उपस्थिति में भी जैनेंद्र जी की अपनी एक शैली है। आपके तर्क-प्रधान प्रतिपादन की पद्धति, इतिवृत्त उपस्थित करने का ढंग और मानसिक द्वंद्व-प्रदर्शन में बल एवं चामत्कारिक विशेषता है। साधारणतः इनकी भाषा व्यावहारिक और चलती है। उर्दू-संस्कृत, तद्भव-तत्सम और बोलचाल—सभी प्रकार के शब्दों का प्रयोग दिखाई पड़ता है। कहीं-कहीं शास्त्रीय और पारिभाषिक पदावली तथा शब्द भी मिलते हैं। तार्किक विवेचना की शैली में स्वभावतः भाषा कुछ अधिक तत्सम, वाक्य अपेक्षाकृत बड़े और जटिल तथा कथन में घुमाव-फिराव प्राप्त होता है। इतिवृत्त उपस्थित करते समय भाषा सरल रखी गई है; उसमें उर्दू-हिंदी के चलते और व्यावहारिक शब्दों के प्रयोग मिलेंगे। वाक्य सीधे और छोटे-छोटे लिखे गए हैं। कथन भी सुसंबद्ध और प्रवाहयुक्त हुआ है। जहाँ आंतरिक उद्वेग, मानसिक द्वंद्व और भाव-संघर्ष चित्रित हुआ है, वहाँ स्वभावतः भाषा में चलतापन, वाक्य-रचना में ऋजुता और लघुता तथा कथन में आवेश-पूर्ण प्रवाह प्राप्त होता है; जैसेः—

बुहारी को बाँस में लगाकर वह मकड़ियों के जाले में दे-दे मार रही है। ये मकड़ी इतनी जाने कहाँ से पैदा होकर आ जाती हैं! महीना तो हुआ नहीं कि सब साफ किया ही था। और जरा सी होती है, जाने इतना सारा जाला अपने पेट में कहाँ से निकाल लेती है। वह भागी। कितनी बड़ी है, शिः, कैसी लगती है! और एकाध फुट मकड़ी को भागने देकर सुनीता ने

अपनी झाड़ू जोर से उसमें मारी। छः बड़ी-बड़ी टाँगों से अपने को बचाकर भागी जाती हुई मकड़ी को देखकर उसके जी में न जाने कैसी घिन हो रही थी। मारना उसे असह्य था। जैसे वह मकड़ी अपनी घिनौनी टाँगों से उसके कलेजे पर से भागी जा रही है। इस भाँति, न मारना और भी असह्य था। सो, जाने किस तरह जोर के हाथ से झाड़ू मकड़ी पर उठ गई, और मकड़ी की देह सींकों की नोकों पर लिपटी रह गई। इसपर उसके मन में मितली-सी होने लगी। झाड़ू छोड़कर वह स्टूल से उतरी। उतरते-उतरते साड़ी का छुटा पल्ला स्टूल की एक कील में उलझ गया। उसने जोर से खींचकर वह पल्ला छुड़ा लिया, जिसमें साड़ी जरा सी फट भी गई। एक फेंट देकर उसे कमर में कस लिया। इस व्याघात से उसके मन की ग्लानि सहसा-ही उड़ गई। वह फिर कार्य पर आ-डटने को हुई।

—'सुनीता' (प्रथम संस्करण, पृ० ६२ )

घर बंधन है, तो हो; लेकिन मुझे तो मोक्ष भी यहाँ ही पानी है। राष्ट्र को मैं क्या जानूँ ? पर पति को तो मैं जानती हूँ, वह मुझे बहुत स्नेह करते हैं। उनके साथ मेरा ब्याह हुआ है। विवाह कुछ हो, लेकिन भगवान उसके साक्षी हैं, अग्निदेव उसके साक्षी हैं। समाज के और लोग तो उसके साक्षी हैं। वह मिटेगा नहीं, छुटेगा नहीं, टूटेगा नहीं। क्या धर्म इसलिये है कि टूटे ? तुम कहते हो क्षुद्र-प्राण जीवन, अल्प-प्राण जीवन ? कहो, लेकिन मेरे लिये वही जीवन बहुत है। तुम राष्ट्र के लिये मेरा स्वत्व-दान माँगते हो। मैं इससे चूकती नहीं, लेकिन मैं अपना स्वत्व पति की सेवा में अर्पण कर दूँ तो क्या अंतर है ? मेरे लिये इतना ही तो इष्ट है कि मैं अपना स्वत्व अपने पास न रखूँ, उसे लोगों के चरणों को सहरानेवाली धूल में मिला दूँ ?—राष्ट्र की नींव में मैं अपने स्वत्व को चढ़ा दूँ ? हरिप्रसन्न, यही तुम कहते हो न ? कहते हो कि राष्ट्र विराट् है, व्यक्तिहीन है। ठीक; किंतु राष्ट्र मुझे अप्राप्त है, मेरे निकट प्राप्त तो व्यक्ति ही है। मेरे लिये तो सारा राष्ट्र, सारा समाज, सारा श्रेय, जिस व्यक्ति में समा जाना चाहिए, वह तो मुझे प्राप्त मेरे स्वामी हैं। उनके चरण जहाँ-जहाँ धूलि पर पड़ते हैं, उस धूलि के कणों में मैं अपने को खो दूँगी। तब मेरे पास स्वत्व शेष ही कब रहेगा, जो तुम्हारे राष्ट्र को दूँ ? इससे, हरी भाई, कल मैं न जाऊँगी।

( वही, पृ० २९६ )

**नवीन अभिव्यंजना का प्रेम जहाँ अनेक भूलें कराता है वहाँ सुंदर का भी सृजन करता है। नवीनता के इस प्रयोग में जैनेंद्र जी ने भी**

वाक्य-रचना और कथन के कुछ ढंग ऐसे निकाले जो वस्तुतः सुंदर और ग्राह्य हैं। संभव है कि इन प्रयोगों में भी लोग मीन-मेष करें परंतु यदि ये रचना के व्यवहार में चल पड़ें तो अभिव्यंजना में योग ही मिलेगा। निम्नलिखित उद्धरणों में कुछ प्रयोग नवीन हैं, कुछ सुंदर और कुछ ऐसे हैं जिनका प्रयोग कम होता है, परंतु यदि वृद्धि पाए तो अच्छा हो।

"खूब चतुर, खूब कर्मण्य, खूब सप्रमाण और एकदम अज्ञेय—ऐसा वह था।'— सुनीता पृ० १७।

'वह पी-एच्० डी० हैं; इसलिये हर बात को उन्हें हस्तामलकवत् जानना चाहिए, ऐसा उनका ख्याल है।'

—मौत की कहानी।

'पर शास्त्र बिना जाने भी मैं साहित्यिक हो गया हूँ ऐसा आप लोग कहते हैं।'—साहित्य-परिषद्-भाषण।

'विज्ञान की दुरबीन में से सत्य को देखते देखते जब आँखें हार जाती हैं तभी तब बुद्धि त्रस्त हो रहती है।' ( वही )

'दुनिया में जो कुछ हो रहा है उसके भीतर यदि मैं उद्देश्य की, अर्थ की झाँकी न ले सकूँ', ( वही )

'वह ज्ञान सत्य है तो बस हमारा होकर है।'— निरा अबुद्धिवाद।

इन नवीनताओं के अतिरिक्त इधर जो विचारपूर्ण निबंध उनके प्रकाशित हुए हैं उनमें वितर्काश्रयी अभिव्यंजना-पद्धति का भव्य रूप दिखाई पड़ता है। इस प्रकार की शैली में जहाँ बुद्धि-प्रधान चिंतन की विशिष्टता झलकती है वहीं भाषा की भंगिमा भी विदग्धता से समन्वित हो उठती है। तर्क की उलझन को भाषा की वक्रता सँभाल कर ले चल सके तो तर्क की रूक्षता भी नहीं खटकेगी और न उसकी गति विधि किसी प्रकार का अंधकार ही उत्पन्न करेगी। इन निबंधों में आकर जैनेंद्र जी की शैली निखर उठी है। जैसे विचारों में प्रौढ़ता बढ़ती गई है उसी प्रकार भाषा की भंगिमा भी सुदृढ़ हो गई है—विचारात्मक अभिव्यंजना का स्वरूप स्थिर हो गया है। उदाहरण के रूप में इस विशेषता को कहीं भी देख लिया जा सकता है।

आज की समाज-रचना अहिंसा की बुनियाद पर नहीं है। उसमें दल हैं, पक्ष हैं और विषमता है। आपसी संबंध कुछ ऐसे आधार पर बने हैं कि

स्नेह कठिन और शोषण सहज होता है। एक की हानि में दूसरे का लाभ है और एक पक्ष उभरता है तो तभी जब कि दूसरा दबता है। इन संबंधों के आधार पर जो समाज का ढाँचा आज खड़ा है, उसमें हम देखते हैं कि प्राणशक्ति का बहुत नाश और अपव्यय होता है। अधिकांश आदमियों की संभावनाएँ व्यर्थ जाती हैं। एक सफल होता है तो अनेकों को असफल बनाकर। इस तरह उस एक की सफलता स्वयं व्यंग हो रहती है। ऐसी समाज-व्यवस्था में जो सभ्यता, संस्कृति और संस्कारिता फलती है, वह मानव-जाति को बड़ी महँगी पड़ती है। इसी में संदेह है कि वह वास्तव में संस्कारिता होती है। निस्संदेह आज सुघराई की कमी नहीं है। नफासत की एक-से-एक बढ़कर चीजें लीजिए। शबनम के वस्त्र। सपने हारे, ऐसी फैंसी चीजें, सुख-विलास के अनेक आविष्कार। आमोद-प्रमोद के अगणित प्रकार। कहाँ तक गिनाइएगा। कला-कौशल का भी कम विकास नहीं है। किताबें बहुत हैं, अखबार बहुत हैं और सिनेमा बहुत हैं। इस प्रकार शालीनता और शिष्टता और आभिजात्य के वैभव का आज वैपुल्य है। बड़े शहरों की फैंसी सोसाइटी में जाने से पता चलेगा कि रुचि किस बारीकी और रंगीनी और ऊँचाई तक पहुँची है।

—'जड़ की बात', प्रथम संस्करण, पृ० ६३।

उपसंहार

भाषा भाव की अनुरूपिणी होती है। जिस प्रकार का वर्ण्य विषय होता है उसी प्रकार की भाषा भी आवश्यक होती है। वस्तुतः भाव और भाषा का साम्य न होने से पाठक के हृदय में उस विचार-परंपरा का अनुभव उतनी स्पष्टता और स्वाभाविकता से नहीं होता जिसका दिग्दर्शन अभिप्रेत होता है। अतएव भाषा का भाव के उन्मेष के अनुरूप होना अत्यंत आवश्यक है। यही कारण है कि यदि हम भाषा के क्रमागत विकास का अध्ययन करना चाहते हैं तो विचार-परंपरा का अध्ययन आवश्यक होता है। जिस काल में विचार-पद्धति का जितना विकास हुआ रहता है भाषा भी उतनी ही सबल होती है। जिस प्रकार क्रमशः भाव-शैली उन्नत और परिष्कृत होती जाती है, उसमें बल का संचार होने लगता है और उसका विस्तार व्यापक होने लगता है, उसी प्रकार भाषा में भी सजीवता तथा प्रौढ़ता आने लगती है और वह अनेक प्रकार के भाव-द्योतन में समर्थ होती जाती है। यही कारण है कि किसी भी साहित्य के आरंभिक काल में भाषा का रूप संकुचित तथा निर्बल रहता है। उसमें न तो एकरूपता ही रहती और न अनेक

प्रकार के भाव-प्रकाशन की सामर्थ्य ही। उसका धीरे धीरे विकास होता है।

इसी स्वाभाविक नियम का दर्शन हम हिंदी-गद्य की आरंभिक अवस्था में पाते हैं। हिंदी गद्य का प्रारंभिक काल निर्विवाद रूप से उसी समय से माना जाता है जिस समय मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्ला खाँ, सदल मिश्र और लल्लू जी लाल की रचनाएँ प्रकाश में आई। इसके पूर्व गद्य का इतिहास शृंखलाबद्ध और धारावाहिक रूप में नहीं मिलता। इन लोगों ने इस समय जो रचनाएँ उपस्थित कीं उनमें से कुछ तो केवल संस्कृत से अनुवाद मात्र थीं और कुछ स्वतंत्र। जिन लोगों ने अनुवाद किया उनको आधार-स्वरूप भाव और भाषा दोनों की सहायता प्राप्त हुई। यही कारण है कि उनकी कृतियों में संस्कृत की भावभंगी अधिक दिखाई पड़ती है। यह सांस्कृतिक प्रभाव शब्दों तक ही परिमित न रह सका परंतु भाव-द्योतन की प्रणाली तक में पाया जाता है जिसे हम एक शब्द में शैली कहते हैं। अभी हिंदी-साहित्य में केवल पद्य-रचना ही होती रही; लोगों के कान तुकांत पदावली में मँजे थे। यही कारण है कि लल्लू जी लाल और सदल मिश्र की रचनाओं में तुकांत-रचना की अधिकता मिलती है। इन लोगों की कृतियों में इधर-उधर प्रांतिकता भी स्पष्ट दिखाई पड़ती है। साधारणतः इस समय की अधिकांश रचनाओं में शब्दयोजना असंयत एवं वाक्य-रचना अव्यवस्थित और भाव-प्रकाशन निर्बलतापूर्ण था। मुंशी सदासुखलाल की भाषा में कुछ गंभीरता और परिष्कृत रूप अवश्य था, परंतु सर्वत्र पंडिताऊपन भाषा का गला दबाता दिखाई पड़ता था।

इन लोगों से कुछ भिन्न रचना-शैली इंशा अल्ला खाँ की थी। उनकी रचना का उद्देश्य स्वांतःसुखाय था; यही कारण है कि उनकी भाषा का प्रवाह भी स्वच्छंद और अधिक चमत्कारपूर्ण था। पूर्व-वर्णित लेखकों की वस्तु धर्म-प्रधान होने के कारण भाव-व्यंजना भी अपेक्षाकृत गंभीर हुई है। परंतु खाँ साहब की वस्तु काल्पनिक होने के कारण उनकी भाव-द्योतन की प्रणाली भी नवीन और स्वतंत्र थी। उद्भावनाशक्ति के विचार से खाँ साहब सबों में श्रेष्ठ थे उनकी वस्तु में नवीनता थी, भावभंगी और शैली में चमत्कार था। इतना होने पर भी भारतीय संस्कृति की झलक उनमें कुछ कम पाई जाती

है। शब्द-योजना में ही उर्दूपन नहीं मिलता वरन् वाक्यविन्यास में भी उर्दू छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। यदि इस काल की सभी रचनाओं को एकत्र रखकर विचार किया जाय तो यही कहा जायगा कि भाषा और व्याकरण दोनों का निर्वाह संयत रूप में नहीं हुआ था—न तो भाषा का ही रूप स्थिर हुआ था और न व्याकरण के नियमों का ही पालन दिखाई पड़ता था। यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी। उस समय कुछ लिखना और पठन-पाठन को व्यापक बनाना ही ध्येय था। विषय भी इसीलिये केवल साधारण कथा-कहानी का ही लिया गया। इसमें रुचि का आकर्षण ही प्रधान वस्तु थी। दूसरी बात जो इस समय ध्यान देने योग्य थी और जिसका संबध सीधे सीधे शैली से है वह थी भाषा में शुद्धतावाद के झगड़े का आरंभ। इस झगड़े के प्रधान नायक इंशा अल्ला खाँ और लल्लू जी लाल थे। इसमें लल्लू जी लाल की रचना—प्रेमसागर—को देखने से स्पष्ट बोध होता है कि उर्दू वाक्य-रचना और शब्द-योजना से बचने का प्रयत्न लेखक ने सचेष्ट होकर किया है। दूसरी ओर खाँ साहब की रचना में उर्दूपन, शब्द-योजना तक ही न रहकर वाक्य-रचना एवं भावभंगी तक में घुसा हुआ था। इस भाँति सचेष्ट रूप से दो भिन्न-भिन्न प्रकार की शैलियों का शिलान्यास प्रारंभिक काल ही में हुआ। इसका क्रमशः विकास होता रहा।

इसके उपरांत यदि हम ईसाइयों के द्वारा की गई हिंदी की सेवा का उल्लेख न करने का निश्चय कर लें तो शैली का क्रमिक विकास दिखाना असंबद्ध सा ज्ञात होगा, क्योंकि तीन लेखकों के इस दल के उपरांत पचास वर्षों के अनंतर राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह का काल आता है। यदि इन धर्मप्रचारक ईसाइयों की रचनाओं का विचार न हो तो इन पचास वर्षों को इतिहास में शून्य स्थान प्राप्त होगा। अतएव इन रचनाओं का उल्लेख होना आवश्यक है। यह केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही उचित नहीं है वरन् शैली के विचार से भी इस काल की कुछ विशेषताएँ हैं जिनका उल्लेख आवश्यक है। इन ईसाइयों की रचनाओं में उर्दूपन का पूर्ण बहिष्कार दिखाई पड़ता है। यदि हिंदी का प्रचलित शब्द उन्हें नहीं मिलता था तो किसी भी प्रकार वे उर्दू के शब्दों का व्यवहार नहीं करते थे वरन् हिंदी का ही अप्रचलित अथवा ग्रामीण शब्द लेना उन्हें उतना नहीं खटकता था।

'समय' के स्थान पर उन्हें 'वक्त' कभी न सूझा। 'समय' के स्थान पर 'वेला' अथवा 'जून' तक का व्यवहार दिखाई पड़ता है। वाक्य-विन्यास में भी उर्दू की उस छाया का दर्शन नहीं होता जिसका इंशा अल्ला खाँ की रचनाओं में होता है। इसके अतिरिक्त हिंदी का प्रचार भी इन लोगों ने अधिक किया। जिस ओर पीछे से राजा शिवप्रसाद ने पूर्ण रूप से कार्य किया उस ओर पूर्व ही इन लोगों ने कार्य आरंभ किया था। अपनी पाठशालाओं में पढ़ाने के लिये अनेक प्रचलित विषयों की पुस्तकों का इन्होंने निर्माण कराया जिससे भाषा का प्रचार बढ़ा। इन बातों का संबंध केवल इतिहास से ही नहीं है वरन् शैली-विकास से भी है। इस प्रकार प्रचार होने से और अनेक विषयों में प्रयुक्त होने के कारण भाषा में व्यापकत्व आने लगा, उसकी प्रौढ़ता विकसित होने लगी और उसकी व्यावहारिकता बढ़ने लगी। भाषा का सीधा-सादा सरल रूप खड़ा होने लगा। इन विशेषताओं का रूप हमें इनकी रचनाओं में स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

पाठशालाओं के पाठ्यक्रम के अनुकूल पुस्तकों के प्रणयन का जो प्रयास ईसाई लेखकों द्वारा प्रारंभ हुआ वह राजा शिवप्रसाद जी के द्वारा दृढ़ हुआ। साहित्यिक क्षेत्र में इस समय प्रधानतः दो राजाओं ने कार्य किया; एक राजा शिवप्रसाद जी और दूसरे राजा लक्ष्मणसिंह जी ने। इन लेखकों के काल में वस्तुतः एक ही विषय ध्यान देने योग्य है। भाषा-शुद्धता का जो युद्ध वास्तव में लल्लू जी लाल और इंशा अल्ला खाँ के समय में प्रारंभ हुआ था वह इस समय स्पष्ट और दृढ़ हो गया। राजा शिवप्रसाद जी की रचना-शैली उर्दू और हिंदी का मिश्रण है।

उसमें उर्दू की छाप शब्द तक ही नहीं वरन् वाक्य विन्यास तक में दिखाई पड़ती है। उनके ठीक विपरीत राजा लक्ष्मणसिंह की रचना-शैली है। इन्होंने उर्दू शब्दों का ही नहीं वरन् वाक्य-विन्यास तक का बहिष्कार किया। यह शुद्धतावादी युद्ध आज तक चल रहा है जो बाबू हरिश्चंद्र के समय को पार करता हुआ वर्तमान काल तक पहुँच चुका है।

इसके उपरांत भारतेंदु का काल आया। उनके समय में अनेक प्रतिभाशाली लेखक हुए। अनेक विषयों पर ग्रंथ लिखे गए। उपन्यास, इतिहास, लेख, समालोचना के अतिरिक्त पाठशालाओं के पाठ्य-क्रम से संबंध रखनेवाले अन्यान्य विषयों पर सुंदर पुस्तकें लिखी गईं।

रचना-शैली का क्रमशः विकास हुआ, शब्दों में प्रौढ़ता, वाक्य-विन्यास में स्पष्टता और संगठन बढ़ने लगा। इस काल में भाषा और भावभंगी दोनों में साहित्यिकता का सिक्का जमने लगा था। भाव-प्रदर्शन में भी बल आ गया था। इतना बल आ गया था कि लेखकों को साहित्यिक विशिष्टताएँ एवं गद्यात्मक उत्कर्ष दिखाने की इच्छा होती थी। इतना होते हुए भी भाषा-व्याकरण की ओर लोगों की दृष्टि नहीं फिरी थी। इस समय की कितनी ही रचनाओं में व्याकरण संबंधी त्रुटियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। विरामादिक चिह्नों का भी प्रयोग उचित रूप में नहीं हुआ है। इससे स्थान-स्थान पर भाषा की बोधगम्यता नष्ट हो गई है। एक शब्द में यदि हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि इस समय तक रचना-शैली में परिष्कार एवं परिमार्जन नहीं उपस्थित हो सका था।

जो न्यूनताएँ हरिश्चंद्र-काल में रह गई थीं उनकी पूर्ति वर्तमान काल में हुई। व्याकरणगत न्यूनताओं के विषय में पंडित महावीर-प्रसाद द्विवेदी तथा पंडित गोविंदनारायण मिश्र प्रभृति सतर्क लेखक विशेष तत्पर रहे। भाषागत परिमार्जन के अतिरिक्त वर्तमान काल की प्रधान विशेषता है भाषा का व्यापक विस्तार एवं भाव-प्रदर्शन की प्रौढ़ शैलियों का स्वतंत्र स्वरूप। इस वर्तमान काल में अनेक लेखक कुशलतापूर्वक अनेक विषयों पर लिख रहे हैं। हर एक विषय की स्वतंत्र शैली दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त इन स्वतंत्र शैलियों में लेखकों के व्यक्तित्व के अनुसार वैयक्तिकताएँ विशेष दिखाई पड़ती हैं। ये विशेषताएँ भाषा की प्रौढ़ता और परिष्कार का परिचय देती है।

आज भाषा का जो दिव्य और परिमार्जित रूप दिखाई पड़ता है उसमें कुछ ऐसी खटकनेवाली बातें प्राप्त होती हैं जो थोड़े ही प्रयास से सुधर सकती हैं और इस प्रयास की अत्यंत आवश्यकता है। पहली न्यूनता तो यह है कि शब्दों का स्वरूप ही स्थिर नहीं है। एक ही शब्द कई रूप से प्रयुक्त होता है। कोई लेखक 'बेर' लिखता है तो दूसरा उसको 'बार' लिखता है; कोई 'उद्देश्य' का प्रयोग करता है और कोई 'उद्देश' ही लिखना उचित समझता है; कोई 'धर्म्म' लिखता है, कोई 'धर्म' ही ठीक मानता है। इसके अतिरिक्त क्रियाओं का रूप भी चिंतनीय है। एक 'देखना' क्रिया के कई रूप प्रयुक्त होते दिखाई पड़ते हैं। 'दीख', 'दिखाई', 'दिखलाई', 'देखाई' सब एक ही क्रिया के रूप

हैं। इन सभी रूपों का प्रयोग आजकल मिलता है। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न प्रयोग उस समय और भयंकर ज्ञात होते हैं जब एक ही लेखक दो रूपों का व्यवहार करता है। शब्दों के निश्चयात्मक स्वरूपों का स्थिर होना अत्यंत आवश्यक है। इस निर्बलता के कारण भाषा की स्थिरता में संदेह होने लगता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई विदेशी इस भाषा का अध्ययन आरंभ करता है तो उसे विशेष असुविधा का सामना करना पड़ता है। इसी प्रकार की कोई सुनिश्चित व्यवस्था संस्कृत के नपुंसकों की भी होनी चाहिए।

इधर जब से भाषा की व्यापकता और विस्तार बढ़ता गया है, उसमें अन्य भाषाओं की भावभंगी एवं वाक्य-विन्यास का समावेश होता गया है। प्रथमतः उर्दू के संयोग के कारण उर्दू शब्दों और वाक्य-विन्यास का प्रभाव हमने स्पष्ट देख लिया है। इसके उपरांत हरिश्चंद्र-काल ही में अँगरेजी और बँगला भाषाओं का प्रभाव हिंदी में दिखाई पड़ने लगा था। वर्तमान समय में यह निश्चित करना कि किस भाषा का कितना अंश हिंदी भाषा में मिल गया है बड़े ही विस्तार का विषय है। इसके लिये एक स्वतंत्र पुस्तक की आवश्यकता दिखाई पड़ती है। कहने का सारांश यह है कि एक भाषा पर अन्य भाषाओं को प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। परंतु विचारणीय प्रश्न यह है कि अपनी भाषा में पाचन-शक्ति का विकास करते-करते कहीं हम उसका उद्भावना-शक्ति का ह्रास न करने लगें। वर्तमान समय के लेखकों को इस विषय में सदैव जागरूक रहना चाहिए।

———